संक्षिप्त दोषधातुमलविज्ञान

द. म. पटवर्धन

सब से ज्यादा औषध निर्माण क... वाली

... ...विश्वल आयुर्वेदीय निर्माण शाला

...लिमिटेड

...छ प्रसिद्ध औषधें

...—स्मरणशक्ति वर्द्धक और
श... उत्तम ब्रेन टोनिक है।
४... ...तल का रु. ४—०

 ... और बालक सब ही के
लिये ...आदि सातों धातुओं की
शुद्धि, ...। इसका विशिष्ट कार्य
है। निरो... ...न और रोगी के लिये यह
फलप्रद औष... पर सर्व... है।

सुंदरी संजी... ...। स्त्रियों के प्रदर, ...दोष,
गर्भाशय के रोग तथा ... आदि समस्त रोगों को
नाबूद करके शक्ति देती है। स्त्रियों के लिये यह
सचमुच अमृत है।

एन्टिडीसेन्ट्रोल—यह पर्पटी, इन्द्रजव, कुटजत्वक
घन, बिल्व, कर्पूर और अहिफेन का संयोग है। पुराने
दस्त; मरोड और संग्रहणी के लिये अत्युत्तम है, चाहे
जितने दस्त क्यों न हो यह प्रथम दिन ही गुण दिखलाती
है।

माहितिपत्रक मुफ्त मंगवाईये।

सोल एजंट — जयन्त एन्ड कंपनी,

सीटी पोस्टके सामने, पुना सीटी नं. २.

लेखक का निवेदन

आयुर्वेदीय उपलब्ध ग्रंथोंमें आयुर्वेदीय विषयोंका बिखरे हुअे स्वरूपमें वर्णन किया गया है। इससे तथा उनका संस्कृतमें विवेचन होने के कारण विद्यार्थियोंको उनका आकलन होने के लिये बहुत क्लिष्ट होता है यह बिलकुल सत्य है। विषयक्रमबद्ध पुस्तकें भी अभीतक उपलब्ध नहीं हैं। इस लिये आयुर्वेदिक फेकल्टीके इस विषयके नियोजित पाठ्य-क्रमके अनुसार तथा संकलनात्मक ऐसी यह पुस्तक लिखी गयी है। यह पुस्तक छात्रगणोंको तथा जिज्ञासु लोगोंको अत्यत उपयुक्त होगी ऐसा मुझे विश्वास है। विषयका विवेचन स्वल्प और मुद्देसूद स्वरूपमें, तथा विषय सरल हो इस लिये पदपदपर कोष्टकों का भी समावेश किया गया है। आवश्यकतानुसार आधार के लिये मूलग्रंथों से संस्कृत सूत्रभी पुस्तक में उधृत किये गये हैं। पुस्तकके अंतमें पिछली परीक्षा-ओंमें पूछे गये प्रश्न विद्यार्थियोंके अवलोकनार्थ दिये गये हैं तथा उनके उत्तर भी पुस्तकमें दिखाई देंगे। उनको ढूंढनेका काम विद्यार्थियोंपर सुपूर्त कर दिया है। विद्यार्थी पुस्तकसे योग्य लाभ उठायेंगे ऐसी मुझे आशा है।

संक्षिप्त दोषधातुमलविज्ञानके मराठी पुस्तकका बहुत अंशों में हिन्दी अनुवाद श्री. भा. मो. भटजीने (साहित्य-विशारद, हिन्दी-शिक्षक-सनद) सफलतासे किया है तथा पंडित

रामचंद्रजी वोराजीने भी पुस्तक लिखते समय आवश्यकता-नुसार सहायता की है। उन दोनोंका मै बहुत उपकृत हूँ।

उपरोक्त पुस्तक लिखते और छपते समय वैद्य शं. द. फणसळकरजी तथा वैद्य शं. गं. वर्तकजीने जो अमोल मदद की इसके लिये मैं उनका मनःपूर्वक आभारी हूँ। पुस्तक छपने के पहले वैद्यराज भा. वि. गोखलेजीने (आ. वि. पा. प्रिन्सिपाल, आयुर्वेदिक कॉलेज पूना) पुस्तक गौरसे देखकर कुछ उपयुक्त सूचनाएँ की इसके लिये उनका जितना मैं आभार मानूंगा उतना स्वल्पही होगा। तथा वैद्यरत्न शिव-शर्माजीने अपना असूल्य समय देकर मराठी पुस्तक और उसका हिंदी अनुवाद पढ़कर एक स्वल्प किंतु सुंदर प्राक्कथन दिया इसके लिये मैं उनका अत्यंत उपकृत हूँ। डाक्टर म्हस्करजीने भी अपने व्यवसाय में मग्न होते हुअे भी चार दिनोंमें पुस्तक पढ़कर आगे वर्णित उत्कृष्ट अभिप्राय दिया इसके लिये उनका आभार मानना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

पुस्तकमें कुछ दोष रहे होंगे तो पाठक उनकी ओर क्षमा दृष्टिसे देखें ऐसी मेरी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है।

— लेखक

आधारग्रंथः—अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह, चरक, सुश्रुत आदिग्रंथ तथा आयुर्वेदिय मासिक पत्रिकाएँ। वैद्यराज भा. वि. गोखलेजी की "शारीर क्रिया विज्ञान" नामक पुस्तक।

अर्पण पत्रिका

जिनको आयुर्वेदशास्त्रसंबंधी अत्यंत

स्वाभिमान है

और

उसका भारतमें शीघ्रातिशीघ्र प्रसार हो

ऐसी प्रबल इच्छा है

ऐसे दानशूर

श्रीमान् राजा मुकुंदलालजी बन्सिलालजी

इन्हें कृतज्ञता और प्रेमपूर्वक समर्पण ।

डॉ. म्हसकरजी का अभिप्राय

आयुर्वेदकी परीक्षा के लिये श्री पटवर्धन की " दोष: मलविज्ञान " पुस्तक हरतरहसे योग्य और उपयुक्त आवश्यक सर्व भाग क्रमशः दिया है । तथा अपनी व्या राय कहीं भी देते न हुअे प्राचीन आचार्योंकी रायें स्पष्ट कथन की हैं। भाषा सरल और विषयानुगामी विद्यार्थी यह पुस्तक अवश्य पढें ।

इस उपयुक्त प्रयत्न के लिये श्री पटवर्धन अभिनंदनी।

कृ. श्री. म्हसकर
एम्. ए., एम्. डी. डी., पी.
दि चेअरमन, दि स्टेट बोर्ड
रिसर्च इन आयुर्वेद, बंबई

अनुक्रमणिका

प्रकृतिविज्ञान

विकृतिविज्ञान

समाविष्ट कोष्टक

प्रकृति-विज्ञान

श्रीधन्वंतरये नमः ।

संक्षिप्त दोषधातुमलविज्ञान

विषयप्रवेश

आयुर्वेद का प्रधान हेतु शरीर स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगों का निवारण करना है । शरीर के समस्त धातु समावस्था में याने प्रमाणबद्ध रहने से रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। उन में विषमता या विकृति निर्माण होने से रोगों का प्रादुर्भाव होता हैं। धातुओं में विषमता उत्पन्न होने से उन के कार्य बिगड़ जाते हैं। उन के कार्यों में होनेवाला बिगाड़ समझने के लिये धातुओं के प्राकृतावस्था में चलनेवाले कार्यों का अभ्यास करना आवश्यक ही होता है। "धारणात् धातवः" धातु शरीर के आधार होते हैं और उन के स्वास्थ्य की रक्षा करना यह आयुर्वेद का प्रधान हेतु होने से उन के सामान्य कार्यों की जानकारी अत्यंत आवश्यक होती है। पैदा होने से ही मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे जीवन के चार हेतु होते हैं। सांख्यशास्त्र में स्पष्टतया उल्लेख है कि प्रकृति से जो सृष्टी उत्पन्न होती है उस का हेतु आत्मा को मोक्ष प्राप्ति कर देना है। परंतु ये पुरुषार्थ तभी प्राप्त होंगे जब शरीर निरोगी हो। इसलिये स्वास्थ्य कैसे टिकेगा, शरीर को पथ्य और अपथ्य क्या है, आयुष्य का प्रमाण और स्वरुप, रोग होगा तो उस के हेतु और रूप तथा उस पर-

की चिकित्सा, तथा स्वास्थ्यरक्षा के नियम आदि का ज्ञान आवश्यक है। उन सब का वर्णन आयुर्वेद में विस्तार से किया गया है।

शरीर के मूल—अर्थात्—दोषधातुमल उन की समता को ही शरीर का स्वास्थ्य कहते हैं। परंतु उन घटकों के मध्य में असमता उत्पन्न होने से शरीर के कार्यों में विकृति निर्माण होती है। उस विकृति को समझने के लिये उन घटकों के मध्य में प्राकृतावस्था में होनेवाले कार्यों का अभ्यास करना आवश्यक है। यही अभ्यास "शारीरक्रियाविज्ञान" या "दोषधातुमलविज्ञान" कहलाता है। धातु और मलों की साम्यावस्था त्रिदोषों पर (वायु, पित्त, कफ) अवलंबित रहती है; इस कारण दोषों को प्राधान्य प्राप्त होता है। इसलिये शारीरक्रियाविज्ञान को—"त्रिदोष—विज्ञान" भी कहते हैं।

आयुर्वेद का लक्षण

आयुषो वेद आयुर्वेदः।

जिस शास्त्र में जीवन के हिताहित के संबंध में चर्चा की गयी है उस को आयुर्वेद कहते हैं।

हिताहितं सुखंदुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

च. सू. १–४१

जिस शास्त्र में आयु की हित अवस्था, अहित अवस्था, सुखयुक्त अवस्था, दुःखयुक्त अवस्था, आयु और आयु का हित, अहित तथा आयु का परिमाण कथन किया हुआ हो या

यों कहिये जिस के द्वारा यह सब जाना जाय उस को आयुर्वेद कहते हैं।

इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां
व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च ।
आयुरस्मिन्विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ।
सु. सू. अ. १।१२, १३

रोगों से पीडित मनुष्य का रोग निवारण करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ की रक्षा करना यह आयुर्वेद का प्रयोजन है। इस शास्त्र में आयु के संबंध में विचार होता है या इस शास्त्र के द्वारा आयुष्य की प्राप्ति होती है इसलिये यह शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है।

व्यापक लक्षण

वातपित्तकफावच्छिन्ना हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणी या चिकित्सा सा आयुर्वेदीया, आसां वेद आयुर्वेदः ।

वातपित्तकफ की दृष्टिसे स्वीकृत हेतुविपरीत और व्याधि विपरीत या तदर्थकारी ऐसी जो चिकित्सा वह आयुर्वेदीय चिकित्सा और जिस शास्त्र में यह कही गयी है वह आयुर्वेद शास्त्र है।

आयुर्वेद जीवन का सर्व श्रेष्ठ विज्ञान है। उस में जीवन दोषरहित अर्थात् स्वस्थ कैसे जीता जायगा और रोग होगा ही तो उस का निवारण कैसे करना इसपर अति आसान, विज्ञान पूर्ण, संदर और नेक विवेचन है।

आयुष्यलक्षण

शरीरेंद्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥
च. सू. १–४२

शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा इन के संयोग को आयु कहते हैं। उसी को धारि, जीवित, नित्यग और अनुबंध भी कहते हैं। ये आयु के पर्याय वाचक शब्द हैं।

शरीर पंचमहाभूतात्मक घटकों का बनाया होने पर भी आत्मा का उपभोग लेने का मंदिर है। शरीर में इंद्रियों का समावेश होने पर भी उन के खास नाम लेने का कारण वे प्रधानपद धारण करते हैं। सर्व पंचमहाभूतों को इकट्ठे जमा कर रखने के कारण शरीर को ही धारी कहते हैं। उसी को ही नित्य, जीवित और अनुबंध ऐसे दूसरे पर्याय शब्द होते हैं। नित्यग-याने हमेशा दौडनेवाला "नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यगः"। अनुबंध याने पिछले और आगे के जन्म का संबंध बतानेवाला। अनुबंध शब्द से जीवात्मा का प्राणिमात्र के हरएक योनि में से गमन सूचित किया गया है।

पुरुषलक्षण

सत्वमात्माशरीरं च त्रयमेतत् त्रिदंडवत् ।
च. सू. १।४६

मन शरीर आत्मा इन तीनों का तीन दंडों के समान परस्पर संबंध है। इन तीनों के संबंध को वैद्यकशास्त्र में पुरुष कहा जाता है।

खादयश्चेतनाषष्ठाधातवः पुरुषः स्मृतः ।

च. शा. १।१५

यद्यपि केवल चेतनाधातुरूपही सर्व शास्त्रसंमत पुरुष है तो भी चिकित्सासाधन के लिये पृथ्वि, आप, तेज, वायु आर आकाश और चेतना इन के मिले हुअे संबंध को पुरुष कहते हैं ।

पुनश्चधातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेंद्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

च. शा. १।१६

प्रकृति (अव्यक्त) महान्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ आदि मूल आठ प्रकृति; मन के सहित ग्यारह इंद्रियें; (मन, पाँच ज्ञानेंद्रियें— श्रवणेंद्रिय, स्पर्शनेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय, रसनेंद्रिय, और घ्राणेंद्रिय; पाँच कर्मेंद्रियें—वाणी, हस्त, पाद, गुह्येंद्रिय, और गुदा) ज्ञानेंद्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये विषय जिसपर अधिष्ठित हैं ऐसे पंचमहाभूत; (आकाश वायु, तेज, आप और पृथ्वी) ये समस्त मिल कर चौबीस तत्त्व और आत्मा उन के मिलाप से पुरुष बन गया है ।

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पंचविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति ।

सु. शा. १।८

इन चौबीस तत्त्वों का समुदाय और पच्चीसवाँ चेतना तत्त्व आत्मा उन के समवाय संबंध को पुरुष कहते हैं ।

आयुर्वेद सांख्यशास्त्र को आधारभूत मानता है और उस में उपरनिर्दिष्टलक्षण पुरुष का व्यापक लक्षण माना गया है ।

तो भी अंतमें मूल प्रकृति से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होने से पंचमहाभूत अधिक चेतनावान् आत्मा दोनों मिलकर षड्-धात्वात्मकः पुरुषः ऐसा संक्षेप से लक्षण चरकाचार्य ने किया है। तद्वत् आयुर्वेद का मूल आधार जो त्रिदोष उन के विषय में विचार करते समय सांख्यशास्त्र में वर्णित चौबीस तत्वों-में से पंचमहाभूतों का ही उल्लेख हमेशा प्रतीत होता है। पंचमहाभूतों में ही दूसरे समस्त तत्त्वों का समावेश होने के कारण षड्धात्वात्मकः पुरुषः ऐसा लक्षण योग्य और सुसूत्र है।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं
पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।

चतन्ययुक्त और प्रमाणसहित ऐसा पंचमहाभूतों का समुदाय शरीर कहलाता है।

सृष्ट्युत्पत्ति

समस्त सृष्टी की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम आदि को उत्पत्ति के कारण कहते हैं। उस अव्यक्त से (प्रकृतिसे) उसी स्वभाव का (सत्व, रज, तम, स्वभाव का) महत् बुद्धितत्व उत्पन्न होता है। और उसी स्वभाव के बुद्धितत्व से उसी स्वभाव का (त्रिगुणात्मक) अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार तीन प्रकारका है; वैकारिक (सात्विक) तैजस् (राजस्) और भूतादि (तामस)। उस में राजस् अहंकार की सहाय्यता द्वारा सात्विक अहंकार से ग्यारह इंद्रियें उत्पन्न होती हैं। जैसे:— श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा, घ्राण, वाणी, हस्त,

लिंग, गुदा, पाद और मन । इन में प्रथम पाँच ज्ञानेंद्रियें हैं, दूसरी पाँच कर्मेंद्रियें हैं और मन कर्मेंद्रिय तथा ज्ञानेंद्रिय है। राजस अहंकार की सहाय्यता द्वारा तामस अहंकार से भी तद्स्वभाव की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं । उन तन्मात्राओं के विषय ये हैं — शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध । इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से एकोत्तर परिवृद्धया आकाशादि स्थूल पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । जैसे शब्दतन्मात्रा से शब्दगुण—आकाश, शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्द स्पर्शगुण वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रासहित रूपतन्मात्रा से शब्द स्पर्शरूपगुणयुक्त तेज, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रासहित रसतन्मात्रा से शब्दस्पर्शरूपरसगुणयुक्त जल, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रासहित-गंध तन्मात्रा से शब्दस्पर्शरूपरसगंधगुणयुक्त पृथ्वी ।

प्रकृति, महान्, अहंकार पंचतन्मात्राएँ आदि ८ तत्व, ग्यारह इंद्रियें और पाँच स्थूल पंचमहाभूत ये समस्त मिलकर चौबीस तत्व तथा पच्चीसवाँ तत्व आत्मा उन के संबंध से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है ।

प्रकृति पुरुष साधर्म्य

पुरुष	प्रकृति
अनादि	अनादि
अनंत	अनंत
अलिंग	अलिंग
द्वैतभावरहित	द्वैतभावरहित
नित्य	नित्य

प्रकृति पुरुष वैधर्म्य

पुरुष	प्रकृति
चैतन्ययुक्त	अचेतन
निर्गुण	त्रिगुणात्मक
निर्बीज	बीजरूप
उत्पत्तिधर्मासिवा	प्रसवधर्मिणी
सुखदुःखसिवा	सुखदुःखानुभवी

आयुर्वेद सांख्यशास्त्र को आधारभूत मानता है । सांख्यशास्त्र पुरुष याने आत्मा को असर्वगत और नित्य मानता है । सांख्यशास्त्र आत्मा अनेक है ऐसा मानता है । आयुर्वेद केवल बाह्य शरीर को महत्व नहीं देता तो आयुर्वेद शरीर, इंद्रियें, सत्व तथा आत्मा आदि के संबंध में सूक्ष्म विचार करता

है। इस से और विशेषतः आत्मसाक्षित्व से आयुर्वेद के विवेचन में मुख्य केंद्र जो शरीर उस की क्रिया में अन्य विज्ञानों की अपेक्षा अधिक विशेषता है।

पुरुषे आत्मनः लक्षणानि

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसोगतिः।
इंद्रियांतर संचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशांतरगतिः स्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनापगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषःसुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः।
बुद्धिस्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः॥

च. शा. १-६९ ते ७१

श्वास लेना और छोडना, आँख का झपकना, जीवन, मन की गति और उस का एक इंद्रिय से दूसरी इंद्रिय तक जाना, मन को प्रेरण आर धारण करना, स्वप्न में देशांतर गमन करना, मृत्यु का ग्रहण अथवा पंचभूतों के तत्वों को जानना, दक्षिण नेत्र से देखे हुअे पदार्थ को वाम नेत्र से पहचान लेना, इच्छा, द्वेष, सुख दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि और अहंकार ये सब लक्षण जीवित मनुष्य में प्रतीत होते हैं।

पंचमहाभूत, ज्ञानेंद्रियें और उन के कार्य

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिंद्रियाणि तु।
पंचकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते॥

च. शा. १।२३

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पंचमहाभूत हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा और घ्राण ये क्रमशः उन के ग्रहण करनेवाली पाँच इंद्रियें हैं। ये पाँच इंद्रियें क्रम से एकएक अधिक महाभूतों का ग्रहण करती हैं। उसका स्पष्टार्थ ऐसा है कि श्रोत्र का संयोग केवल आकाश के साथ होता है क्योंकि आकाश का धर्म शब्द है। श्रोत्र शब्द के विना किसी भी वस्तुओं का ग्रहण कर नहीं सकता है। एवं स्पर्शनेंद्रिय का वायु और आकाश के साथ, चक्षु का आकाश, वायु और तेज के साथ, जिव्हा का आकाश, वायु, तेज, और जल के साथ और घ्राण का समस्त महाभूतों के साथ संयोग होता है। उक्त इंद्रियों का अस्तित्व उन के क्रम से श्रवणादि कर्म के द्वारा प्रतीत होता है और उन इंद्रियों से बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।

पंचकर्मेंद्रियें और उनके कार्य

हस्तपादगुदोपस्थं जिव्हेंद्रियमथापिच।
कर्मेंद्रियाणि पंचैव पादौ गमनकर्माणि ॥

च. शा. १।२४

पायुपस्थौ विसर्गार्थे हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिव्हावागींद्रियं वाक्‌च सत्याजोतिस्तमोऽनृता ॥

च. शा. १।२५

हाथ, पैर, गुदा, गुह्य और जिव्हा ये पाँच कर्मेंद्रियें हैं। पैरों का चलना, गुदा का मलत्याग, गुह्य का मूत्रत्याग, और हाथों का ग्रहण या धारण करना कर्म हैं। एवं जिव्हा का उच्चारण करना कार्य हैं। वह उच्चारण दो प्रकार का है,

सत्य और असत्य । सत्य ज्योतिःस्वरूप है और असत्य तमः स्वरूप है ।

महाभूतानि खंवायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दःस्पर्शश्चरूपंच रसोगंधाश्च तद्गुणाः ॥
च. शा. १:२६

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परेपरे ।
पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥
च. शा. १।२७

आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी और ये पांच पंच-महाभूत हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये इन के पाँच गुण हैं । इन में पहले में एक, दूसरे में दो, तीसरे में तीन, चौथे में चार और पाँचवे में पाँच गुण हैं ।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम् ॥
च. शा. १।२८

लक्षणं सर्वमेवैतस्पर्शनेंद्रियगोचरम् ।
स्पर्शनेंद्रियाविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥
च. शा. १।२९

खरत्व, (पिच्छल के विपरीत, कर्कश) द्रवत्व, गतिमता (अस्थिरता) और उष्णता ये क्रम से पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के धर्म हैं । आकाश का धर्म—अप्रतिघात (याने आघात को प्रतिबंध करनेकी असमर्थता) है । किस द्रव्य में किस महाभूत का अस्तित्व है यह पूर्वोक्त लक्षण से समझता

है । ये समस्त लक्षण स्पर्शनेंद्रिय जो त्वचा उस के द्वारा प्रतीत होता है । त्वचा के द्वारा केवल स्पर्श ही समझता है ऐसा नहीं तो स्पर्शका अभाव केवल त्वचा से ही समझता है । तत्वतः सर्व इंद्रियों का एक स्पर्शेंद्रिय में ही अंतर्भाव होता है । कानों से सुनना यही एक स्पर्श है । जिस समय बाहर की आवाज कानों मे मज्जातंतुओं को स्पर्श करती है तभी सुनाई देता है । इसीप्रकार और इंद्रियों के समझें ।

पंचमहाभूतों के गुण

(१) आंतरिक्षास्तु— शब्दः शब्देंद्रियं सर्वच्छिद्र-समूहो विविक्तताच ।

सु. शा. १।२०,२१

आकाश के गुण:— शब्द, श्रोत्र शरीरगतअवकाश और पृथकत्व हैं ।

(२) वायव्यास्तुः— स्पर्शः स्पर्शनेंद्रियं सर्वचेष्टा समूहः सर्वशरीरस्पंदनं लघुता च ।

वायु के गुण:— स्पर्श, त्वचा, संपूर्ण चेष्टाएँ, सर्वशरीर-गत स्पंदन और हल्कापन (लघुता) है ।

(३) तैजसास्तु— रूपं रूपेंद्रियं वर्णः संतापो भ्राजि-ष्णुतापक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च ।

तेज के गुण:— रूप, चक्षु, वर्ण, उष्णता, तेज, शरीर-गत पचनकार्य, क्रोध, तीक्ष्णता, और शौर्य हैं ।

(४) आप्यास्तु-रसो रसनेंद्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च ।

जल के गुणः— रस, जिव्हा, शरीरगत संपूर्ण द्रवभाग भारीपन, शीतता, स्निग्धता, और वीर्य हैं ।

(५) पार्थिवास्तु-गंधो गंधेंद्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ।

पृथ्वी के गुणः—गंध, घ्राणेंद्रिय, शरीरगत सर्व ठोस भाग और गुरुता हैं ।

मन के गुण

सात्विक गुणः—दयावृत्ति, विभाग करने की प्रवृत्ति, क्षमा, सत्यधर्म, आस्तिक्यबुद्धि, ज्ञान, बुद्धि, धारण करने की शक्ति, स्मृति, धृति और अनासक्ति ।

राजस गुणः— दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, अधीरता, अहंकार, असत्य बोलने की प्रवृत्ति, क्रूरता, कपट-वृत्ति, मान, हर्ष, काम और क्रोध ।

तामस गुणः— मानसिक उद्विग्नता, नास्तिक्यवृत्ति, अधर्म की ओर प्रवृत्ति, बुद्धि का विरोध, अज्ञान, मूढ़ता, आलस्य, और निद्रालुता ।

इन पंचमहाभूतों में आकाश सत्त्वप्रधान है; वायु रजः-प्रधान है; अग्नि सत्त्वरजप्रधान है; जल सत्त्वतमप्रधान है; और पृथ्वी तमःप्रधान है ।

पंचज्ञानेंद्रियें और पंचमहाभूत

पंचमहाभूत	पृथ्वी	आप	तेज	वायु	आकाश
सात्विकादिगुण	तम	सत्व,तम	सत्व,रज	रज	सत्व
पंचमहाभूतोंके गुण और इंद्रियोंके विषय	गंध	रस	रूप	स्पर्श	शब्द
पंचज्ञानेंद्रियें	घाणें-द्रिय	रसनें-द्रिय	रूपेंद्रिय	स्पर्शनें-द्रिय	शब्दें-द्रिय
पंचमहाभूतोंके असाधारण लक्षण	(खरत्व)	द्रवत्व	उष्णत्व	चलत्व	अप्रति घातत्व

पाँचो महाभूतों में से एक भी महाभूत स्वतंत्र नहीं है। परंतु अल्प प्रमाण में ही क्यों न हो एक दूसरे से मिले हैं। जिस द्रव्य में जिस महाभूत के अंशों की अधिकता होती है वह द्रव्य तद्भूयिष्ठ द्रव्य कहलाता है।

चिकित्साधिकरण पुरुष त्रिगुणात्मक और पंचमहाभूतात्मक है तथा इंद्रियें और उन के विषय ही पंचमहाभूतों के ही बने हैं। चिकित्सा में जिन सृष्ट द्रव्यों का उपयोग होता है वे ही त्रिगूणा-

त्मक पंचमहाभूतों से बने होने के कारण आयुर्वेद में पंचमहाभूतों-को प्रधानत्व प्राप्त हुआ है।

पंचकर्मेंद्रियें और पंचमहाभूत

पंचकर्मेंद्रियः—	वाणी	हस्त	पाद	गुह्येंद्रिय	गुदा
और	|	|	|	|	|
पंचमहाभूतः—	आकाश	वायु	तेज	आप	पृथ्वी

जडशरीरस्य पंचमहाभूतेभ्य उत्पत्तिः।

तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद्गुरुखरकाठिनमंगं नखास्थिदंतमासचर्मवर्चः केशश्मश्रुलोमकंडरादि तत्पार्थिवं गंघो घ्राणञ्च ॥ च. शा. ७–१२

यद्द्रवसरमंदस्निग्धमृदुपिच्छिलरसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनञ्च। यद्पित्तमुष्मा च योया च भाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयं रूपंदर्शनं च। यदुश्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुंचनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च। यद्विविक्तमुच्यते महान्तिचाणूनिच स्रोतांसि तदांतरिक्षं शब्दः श्रोत्रं च।
च. शा. ७।१२

पार्थिव द्रव्यों का वर्णन :—शरीर के सर्व अंगों में जा विशेष कर के स्थूल, स्थिर, मूर्तिमान, भारी, खर, कठिन अंग होते हैं तथा दांत, नख, अस्थि, मांस, चर्म, मल, केश, श्मश्रु, रोम, और कंडरा आदि पार्थिव अंग होते हैं तथा गंध और घ्राणेंद्रिय भी पार्थिव अर्थात् पृथ्वी के अंग हैं।

आप्य द्रव्यों के नाम:— जो विशेष रूप से द्रव, सर, मंद, स्निग्ध, मृदु, पिच्छिल अवयव है तथा रस, रुधिर, वसा, कफ, पित्त, मूत्र, स्वेद आदि जल के अंग है। एवं रस और रसना भी जल के अंग हैं।

अग्नेय द्रव्योंका वर्णन :— शरीर में पित्त, उष्णता, प्रकाश, पाचनशक्ति, रूप और दर्शनेंद्रिय ये सर्व अग्नेय अर्थात् अग्नि के अंग हैं।

वायवीय द्रव्यों का वर्णन:--उच्छ्वास, निश्वास, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, आकुंचन, प्रसारण, गमन, प्रेरण, धारण और स्पर्श तथा स्पर्शनेंद्रिय ये सब वायवीय अर्थात् पवन के अंग है।

आंतरिक्ष द्रव्यों के नाम:--शरीर के बडे छोटे सबछिद्र, स्रोत, शब्द और श्रोत्रेंद्रिय ये सर्व आकाश के अंग हैं।

पंचकर्मेंद्रियें

पंचकर्मेंद्रियों के कार्य उपर दिये गये हैं। उन में से हस्त और पादों का कार्य व्यानवायु द्वारा होता है। (व्यानवायु के कार्य देखें) तथा गुदा के कार्य अपानवायु द्वारा होते हैं। (अपान वायु के कार्य देखें)

वागिंद्रिय-जिव्हा

जिव्हा पंचकर्मेंद्रियों में से एक इंद्रिय है। उस की हलचल रुकने से या उस को जडत्व प्राप्त होने से हम बोल नहीं सकते यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अतएव जिव्हा वागिंद्रिय कह-लाती है। पंचकर्मेंद्रियों के कार्यों में जिव्हा का कार्य वाणी है ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। उन में से बोलने का कार्य उर में स्थित

उदान वायु से और उद्गारादि ध्वनि उत्पत्ति का कार्य प्राण-वायुसे किया जाता है। शब्द का उपादान कारण आकाश होने पर भी (शब्दगुणकमाकाशम् ।) उनको ढोने का कार्य शब्द-वाही धमनिओं की सहायता से किया जाता है।

सुश्रुताचार्यने नाभिसे निकलनेवाली चौबीस धमनिओं का उल्लेख कर के उपर जानेवाली दस धमनिओं का वर्णन किया है। उसमें शब्दवाही धमनिओंका उल्लेख स्पष्ट प्रतीत होता है। " द्वाभ्यां भाषते; द्वाभ्यां घोषं करोति "। दो धमनियाँ बोलने का और दो अव्यक्त शब्दोच्चार का कार्य करती हैं। इंद्रियोंके मध्यमें स्थित पंचमहाभूतों का उनके खास अग्नि से पोषण होता है, तत्संबंधीवर्णन सूक्ष्म पचन में आगे आयेगा।

श्रोत्रेंद्रिय—कर्ण

कानमें पोला भाग होनेसे वह आकाशभूयिष्ठ इंद्रिय है। आकाशगुण शब्द होनेके कारण कानके द्वारा शब्दका ग्रहण होता है। दूर उत्पन्न हुए शब्द पानीपर उठनेवाली तरंगोंके समान कानोंतक पहुंच जाते हैं। शब्द ग्रहण होनेके बाद वह प्राणवायुसे शब्द ढोनेवाली दो धमनियोंद्वारा कर्मपुरुष याने जीव तक पहुँचाया जाता है और हमें सुनाई देता है। किसीभी विषयका इंद्रियोंद्वारा ग्रहण होनेके लिये मनका अस्तित्व आवश्यक है।

स्पर्शेंद्रियम्—त्वक्

किसीभी विषयका ज्ञान होनेके लिये उसका स्पर्श इंद्रियों-

को होना आवश्यक है। उदाहरण:— आंखोंसे दिखाई देता है यहभी एक तरहका स्पर्श है। रूप विषयका नेत्रेंद्रियसे स्पर्श होनेसे हमें दिखाई देता है। स्पर्श शब्दका इतना व्यापक अर्थ समझनेसे "स्पर्शवाहको वायुः प्राणः" इस सूत्रका अर्थ अच्छीतरह समझा जाता है। याने प्राणवायु इंद्रियोंके विषय मनतक पहुँचाती है। परंतु खर, उष्ण, शीत, द्रव, चल आदि त्वचामें स्थित इंद्रियोंके विषयोंका ग्रहण व्यान वायुके द्वारा होता है। सुश्रुतमें धमनी प्रकरणमें सरल जानेवाली जो चार धमनियाँ बतायी हैं उनकीही असंख्य शाखाएँ आगे शरीरभर फैलती है ऐसा कहा गया है। और यहभी बताया है कि व्यान वायुभी संपूर्ण शरीरमें संचार करती है। उपर-निर्दिष्ट असंख्य शाखाओंके द्वारा (जिसके द्वारा मृदु, कठिन आदि प्रकार और संवेदना ग्रहण की जाती है) स्पर्श ज्ञान हृदयको पहुंचाया जाता है।

चक्षुः—रूपेंद्रियम्

नेत्र इंद्रियका स्थान आँखमें होनेवाले वर्णमंडलमें आँख की पुतलीमें है। आलोचक पित्त रूपग्रहणमें सहायता देता है। रूपग्रहणके बाद रूप वहन दो रूपवाही धमनीओंके द्वारा होता है। यह कार्य प्राणवायु करती है। जब वह रूप मनतक पहुँचाती है तब हमें दिखाई देता है। आँखोंसे पदार्थोंके आकार, स्निग्धादि गुण समझे जाते हैं। रंग (रूप) ये शुक्ल कृष्ण आदि सात प्रकारके होते हैं। आँखोंकी पलके खुलना या बंद होना आदि क्रियाएँ व्यान वायुद्वारा होती हैं।

रसनेंद्रियम्–रसना

जिव्हाके अग्रमें रसनेंद्रियका स्थान है। रसवाही दो धमनियोंके द्वारा प्राणवायु स्वादका ज्ञान मनतक पहुँचाती है। स्वादका ज्ञान होनेके लिये बोधक कफकी सहायताकी आवश्यकता है।

रस मधुर, लवण, अम्ल, तिक्त कषाय, कटु ऐसे छः प्रकारके होते हैं।

गंधेंद्रियम् (घ्राणम्)

नासिकामें गंधेंद्रिय स्थित है। गंधका वहन गंधवाही दो धमनियोंके द्वारा होता है और गंधवहनका कार्य प्राणवायु द्वारा होता है। सुगंध, दुर्गंध ये गंधके दो प्रकार हैं।

पंचज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय इनको पोषक ऐसा विवेचन आगे दिया है।

सुश्रुताचार्यने धमनियाँ चौबीस बताकर इनका जो वर्गीकरण किया वह आगे दिया है।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः चतस्रस्तिर्यगाः।

सु. शा. ९।४

नाभिसें उत्पन्न होनेवाली इन धमनियोंमेंसे दस उपरकी ओर, दस नीचेकी ओर और चार तिर्यक् (पार्श्वों) में जाती हैं।

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन्विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। सु. शा. ९-५

उपर जानेवाली धमनियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसना, रोना, बोलना, इत्यादि विषयोंको अभिवहन करती हुई शरीरको धारण करती हैं।

तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायंते, तास्त्रिंशत्।

ये दस धमनियाँ हृदय के पास पहुँचनेपर तीन भागोंमें विभक्त होती हैं जिससे वे तीस हो जाती हैं।

तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगंधानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यांभाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते च; द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तनं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यांमभिवहतः तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरूदरपार्श्व-पृष्ठोरःस्कंधग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च॥

सु. शा. ९-५

इनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रसको वहन करनेवाली प्रत्येकी दो ऐसी दस धमनियाँ हैं। प्रत्येकके लिये दो दो करके आठ शब्द, रूप, रस और गंधको ग्रहण करती हैं। दोसे मनुष्य भाषण करता है, दोसे अव्यक्त शब्द करता है, दोसे सोता है। दोसे जागता है। दो आँखोंसे अश्रुका वहन करनेवाली हैं, दो स्तनाश्रित स्त्रियोंके स्तन्य का वहन करती हैं, वहीं दो स्तनोंसे पुरुषोंके शुक्रका संवहन करती हैं। ये तीस धमनिया उनके विभागके साथ वर्णन की गयी हैं। इनके द्वारा नाभिके उपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कंधे, ग्रीवा और बाहु इनका धारण और यापन होता है।

अधोगतास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रतिपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विरेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगतानां तिर्यग्गतानां च रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयंति। आमपक्वाशयांतरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्; तासां तु वातपित्तकफशोणित रसान् द्वे द्वे वहतास्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमाभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलांत्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गानां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधो नाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च।

अधोगामी धमनियाँ वात, मूत्र, मल, शुक्र तथा आर्तव उनको अधोभागमें वहन करती हैं। ये पित्ताशयके पास पहुँचने पर पाचकाग्निसे अच्छीतरह पाचित हुओ अन्नके रसको ग्रहण करके अभिवहन करती हुई शरीरका तर्पण करती हैं; उर्ध्वगामी और तिर्यक्गामी धमनियोंको (रस) पहुँचाती हैं, रसस्थानोंको रससे पूर्ण करती हैं; मूत्र पुरीष और स्वेदको (अन्नरससे) पृथक् करती हैं और आमाशय तथा पक्वाशयके मध्यमें तीन भागोंमें विभक्त होती हैं। इस प्रकार विभाग होनेसे ये तीस धमनियाँ बनती हैं। इनमें से वात पित्त कफ रक्त और रसको दो दो वहन करती हुई दस होती हैं। आंत्रमें आश्रय करके दो अन्नवहन करती हैं, मूत्रबस्तिकी

ओर जानेवाली दो मूत्रवाही धमनियाँ हैं; शुक्रोत्पत्तिके लिये दो शुक्रवाही धमनियाँ हैं; दो शुक्र विसर्जनके लिये हैं; वही स्त्रियोंमें आर्तवहनका काम करती हैं, स्थूलांत्रके साथ संबंधित हुई दो मल निरसनी हैं। शेष आठ धमनियाँ तिर्यग्गामी धमनियोंको स्वेदके लिये रक्त अर्पण करती हैं; इस तरह ये तीस धमनियाँ विभागोंके साथ वर्णित हुई हैं। इन धमनियोंसे नाभीके नीचे पक्काशय, कटी, मूत्र, पुरीष, गुदा, बस्ति, मेढ्र और सक्थि इनका धारण और यापन होता है।

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसंख्यातास्ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततंच, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेवचाभ्यंगपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रपद्यन्ते त्वचि विपक्कानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति; तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वांगगताः सविभागा व्याख्याताः।

सु. शा. ९-९

तिर्यग्गामी चारों धमनियोंमें से प्रत्येक उत्तरोत्तर सैंकडों और हजारोंमें विभक्त होती हैं। ये धमनियाँ अपरिसंख्येय हो जाती हैं जिनके द्वारा यह शरीर जालीदार बँधा हुआ और व्याप्त होता है। इनके मुख रोमकुपोंसे संबंधित है। जिसके द्वारा ये स्वेदका अभिवहन करती हैं। तथा भीतर और बाहर अन्न रसके द्वारा संतर्पण करती हैं। इन्हींके द्वाराही त्वचामें प्रयुक्त हुए अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन तथा आलेपनके वीर्य शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं।

इन्हींके द्वारा सुखकर या असुखकर स्पर्शका ग्रहण (जीवात्मा) करता है। संपूर्ण शरीरमें फैली हुई ये चार धमनियाँ विभागोंके साथ वर्णन की गयीं है।

पंचाभिभूतास्त्वथ पंचकृत्वः पंचेंद्रियं पंचसु भावयन्ति। पंचेंद्रियं पंचसु भावयित्वा पंचत्वमायान्ति विनाश-काले ॥ सु. शा. ९-११

पंच इंद्रियोंमें प्रसृत हुई धमनियाँ आत्माको पंच इंद्रियार्थोंमें पंचकृत्वा संयोजित किया करती हैं, और इस तरह विनाशकालतक आत्माको पंचइंद्रियार्थोंके साथ मिलाकर विनाशके समय स्वयं पंचत्वको प्राप्त होती हैं।

मन

मनुष्यप्राणीकी उत्पत्तिमें आधारभूत जो चौबीस तत्व हैं। उनमें ग्यारह इंद्रियोंमें से मन उभयात्मक इंद्रिय है। मन पंच ज्ञानेंद्रियों द्वारा विषयोंका ग्रहण करता है इसलिये उसे ज्ञानेंद्रिय और पंचकर्मेंद्रियोंको अपने कार्य करनेमें प्रवृत्त करता है इसलिये उसे कर्मेंद्रिय कहते हैं। किसीभी पदार्थका ज्ञान होनेके लिये मनका अस्तित्व आवश्यक है।

मनका लक्षण :—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेंद्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्तते ॥
च. शा. १।१७

वैधृत्यान्मनसो ज्ञातं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।

मनके बारेमें दो लक्षण बताये गये हैं। एक ज्ञान होना, दुसरा ज्ञान न होना। किसीभी पदार्थ का ज्ञान होनेके लिये आत्मा, इंद्रिय और पदार्थ आदिका एकत्रित होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वहाँ मनका सान्निध्यभी इष्ट है। अगर मन वहाँ पर न हो तो ज्ञान नहीं होगा।

ज्ञान का अभाव और ज्ञान का अस्तित्व ये दोनों परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं। परंतु तत्वतः बात वैसी नहीं; उदाहरण-आत्मा, आँख, देखने का एक पदार्थ और मन ये सान्निध्य में होने से दृश्य पदार्थ का ज्ञान होता है; जिस समय यह दृश्य ज्ञान हुआ उस समय कान, नाक के सान्निध्यमें मन नहीं था इसलिये कान और नाक के जो विषय शब्द और गंध उसका ज्ञान नहीं हुआ। सारांश, एक प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व याने दूसरे प्रकार के ज्ञान का अभाव। एवं ज्ञान का अस्तित्व और अभाव ये दोनों मन के लक्षण कहे गये हैं।

मन के गुण

अणुत्वमथचैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

च. शा. १।१८

सूक्ष्मत्व और एकत्व ये दोनों मन के गुण हैं। मन स्थूल होता तो उसका सब इंद्रियों के साथ एकसमयावच्छेद से संबंध होकर हमेशा सब विषयों का ज्ञान हो जाता। परंतु ऐसे न होनेसे मन का अलग अलग इंद्रियोंके साथ एकसमयावच्छेद से संबंध होता नहीं यह सिद्ध होता है। नैयायिकों की विचारप्रणाली ऐसी है कि कोई भी दो कार्य एक साथ नहीं होते हैं। जो क्रियाएँ एकसमय दिखाई देतीं हैं वो क्रमशः ही होती हैं। परंतु उनका क्रम इतना शीघ्र

होता है कि हमें वह मालूम नहीं होता। विविध समय देख-नेवाला, सूँघनेवाला और सुननेवाला मन वहीं होता है। वही मन इंद्रियोंके सान्निध्यमें विविध समयमें आता है इसलिये मन एकही है ऐसे माना गया है।

मन के विषय और कार्य

चिन्त्यं विचार्यमुह्यंच ध्येयं संकल्प्यमेवच।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
च. शा. १।१९

इंद्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्यनिग्रहः
ऊहोविचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥
च. शा. १।२०

चिंतन, विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प तथा जानने और स्मरण करने योग्य पदार्थ ये सब मनके विषय हैं।

इंद्रियों के द्वारा पदार्थोंका ग्रहण करना, उन पर निग्रह रखना, तर्क, विचार करना, ये मन के कर्म होते हैं।

मन का स्थान

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबलामलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जंतुं प्राणाय तनसंश्रिताः॥
च. सू. २४।४२

अत्यंत कुपित दोष प्राणों का आश्रय जो हृदय उस को दूषित कर के वाणी, शरीर और मन उन की क्रिया को नष्ट कर देते हैं।

संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः।
रजस्तमः परीतेषु मूढोभ्रांतेन चेतसा॥
सु. उ. अ. ६३।८

संज्ञावह स्रोतसों में वातादि दोष और रजस्तमादि मानसिक दोष प्रवेश कर के उन को व्याप्त करते हैं। जिससे मनुष्य का मन व्यग्र होकर वह बेहोश होता है।

मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः॥

सु. उ. ६२।३

प्रकुपित दोष उन्मार्गगामी होकर मनोवह स्रोतस में प्रवेश करके मन में मद उत्पन्न करते हैं इसलिये उस मानसिक विकार को उन्माद कहते हैं।

तद्वदतींद्रियाणां पुनः सत्वादीनां केवलं चेतनावच्छरी-रमयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च।

च. वि. ५।४

चेतनायुक्त केवल शरीर इंद्रिय और मन आदिओं का अयनभूत और अधिष्ठानभूत होता है।

ऊपर निर्दिष्ट विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्माद, अपस्मार आदि मानसिक रोग मन के अधिष्ठान जो हृदय उस में स्थित संज्ञावह या मनोवह स्रोतसोंको वातादि शारीरिक और रजादि मानासिक दोषोंसे दुष्ट बनानेसे होते हैं। इसलिये ऐसा मानना प्राप्त होता है कि सब चेतन शरीर मन के स्रोतस् होनेपर भी हृदय में स्थित होनेवाले संज्ञावह और मनो-वह स्रोतस् यही मन का अधिष्ठान है।

आगे वर्णित निद्रा या स्वप्न के प्रकरण भी इस विधानको आधारभूत होते हैं।

हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः।

च. शा. १-१२९

नात्मेंद्रियमनोबुद्धिगोचरं कर्म वा विना ।
सुखं दुःखं यथा यच्च बोधव्यं तत्तथोच्यते ॥
च. शा. १-१३१

शब्दादिओं के मिथ्या, अति और हीनयोग ये दुःख के हेतु होते हैं। इनके समयोग से सुख निर्माण होता है। परंतु केवल इन योगों के अस्तित्व का उपयोग नहीं होता तो सुख-दुःख के ज्ञान प्राप्त होने के लिये आत्मा, मन, इंद्रियें और बुद्धि उनकी ही आवश्यकता होती है। उन में से किसीभी एक वस्तु का अस्तित्व न होगा तो सुखदुःख का ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

मन अपने एक हाथ से इंद्रिय के द्वारा उपर उल्लेखित चतुर्विध योगों को और दूसरे हाथ से आत्मा को स्पर्श करता है। इस दो प्रकार के स्पर्शों से सुखदुःख का ज्ञान होता है।

बुद्धि

इंद्रियेणेंद्रियार्थोहि समस्केन गृह्यते ।
कल्पते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा ॥
च. शा. १-२१

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥
च. शा. १-२२

इंद्रियें अपने अर्थ को मन के सहायता से ही ग्रहण करती हैं और इंद्रियों द्वारा अर्थज्ञान होने के बाद मन उनके गुण-दोषों के संबंध में चिकित्सा करने लगता है। तदनंतर

बुद्धि का काम शुरू होता है । वह सारासार का निर्णय करती है और तदनंतर मन बुद्धि के आदेशानुसार काम करता है ।

मन का इंद्रियों के साथ संपर्क हुअे विना ज्ञान प्राप्ती नहीं होता । किसी ही विषय का ज्ञान मन को होने के बाद मन उस संबंध में विचार करने लगता है । परंतु निश्चय करना यह मन का धर्म नहीं है । मन को किसीभी विषय की बुराई या भलाई के संबंध में आशंका आती है । तदनंतर सारासार विचार करनेवाली बुद्धि आगे आ कर इस विषय के बारे में निर्णय देती है । इसलिये बुद्धि " निश्चयात्मिका " कहलाती है ।

निद्रा

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥

च. सू. २१–३४

जब मनुष्य के मन में ग्लानि आ जाती है और कर्मेंद्रियें थक कर अपने विषय से निवृत्त हो जाती हैं तब मनुष्य को निद्रा आती है ।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥

सु. शा. ४–३४

प्राणियों के शरीर में चेतना का स्थान हृदय कहा गया है उस के तमद्वारा व्याप्त होने पर निद्रा प्राणि में प्रवेश करती है । निद्रा का कारण तम और निद्रा से प्रबोधित होने का कारण सत्व कहा जाता है । अथवा स्वभावही निद्रा का अधिक महत्व का कारण कहा गया है ।

करणांतु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते।
अस्वपन्नापि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥
सु. शा. ४-३७

तमद्वारा इंद्रियों की ग्लानि बढ़नेपर मनसहित सब इंद्रियें विकल हो जाती है और न सोते हुअे भी निर्विकार जीवात्मा सोता हुआ कहा जाता है। (विकलता का अर्थ अपने अपने कार्य करने की असमर्थता)

निद्रा तीन प्रकार की होती है।

(१) तमोगुण के अधिकतासे आनेवालीः— यह कफदुष्टी से और मानसिक या शारीरिक परिश्रम से आती है।

(२) अगांतुकीः— यह सन्निपात ज्वरादि असाध्य रोगों में दिखाई देती है।

(३) स्वाभाविकः— रात को स्वभावधर्म से आने-वाली। यह प्राणिओंका पोषण करनेवाली और उन को आरोग्य देनेवाली होने से " भूतधात्री " कहलाती है।

मूर्च्छापित्ततमः प्राया रजः पित्तानिलाद्भ्रमः।
तमोवातकफात् तन्द्रा निद्राश्लेष्मतमोभवा ॥
सु. शा. ४।५६

पित्त और तमोगुण की अधिकता से मूर्च्छा आती है। वातपित्त और रजोगुण की अधिकता से भ्रम की उत्पत्ति होती है।

वातकफ और तमोगुण की अधिकता से तंद्रा आती है। कफ और तमोगुण की अधिकता से निद्रा आती है।

हृदयं विशेषण चेतनास्थानमतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृत्ते सर्वे प्राणिनः स्वपन्ति। सु. शा. ४-३१

हृदय यह विशेष कर के चैतन्य का स्थान है इसलिये तम द्वारा आच्छादित होनेपर संपूर्ण प्राणि सो जाते हैं।

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥

सु. शा. ४-३२.

अधोमुखकमल के समान हृदय आकार में होता है। जागरुक का हृदय विकसित रहता है और निद्रित का संकुचित हो जाता है।

सुषुप्ति को निद्रा कहते हैं। उसमें बाह्येंद्रियें मन में संपूर्णतः लीन होती हैं। "अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा" ऐसा निद्रा का लक्षण पातंजली ने दिया है। निद्रावस्था में बाह्यज्ञान मन के मध्य में संपूर्णतः लीन हुआ रहता है। मन के कुछ कार्य इसी अवस्था में भी चालू रहते हैं। परंतु वे अनैच्छिक होते हैं। मन और इंद्रियों को निद्रा संपूर्ण विश्रांति दे कर बल और उत्साह करा देती है।

स्वप्न

मनोवहस्रोतासि दोषपूर्णे अथवा नातिप्रसुप्तः पुरुषः स्वप्नं पश्यति।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मास्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥

सु. शा. ४-३६.

सोये हुअे मनुष्य का स्वामी जीवात्मा पूर्व और वर्तमान काल में देह से अनुभव किये शुभाशुभ विषयों का ग्रहण रजोयुक्त मन के द्वारा करता है। वह व्यवहार में स्वप्न कहलाता है।

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।
स्रोतसां दारुणान्स्वप्नान्काले पश्यति दारुणान् ॥
नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि ।
इंद्रियेशेन मनसा स्वप्नान्पश्यत्यनेकधा ॥

च. इं. ५-४१.

जब वातादि तीनों दोष अति प्रकुपित हो कर मन की वहन करनेवाली नाडियों में प्राप्त हो जाते हैं तब मनुष्य शुभ और अशुभ स्वप्नों को देखता है।

जिस समय मनुष्य अधिक निद्रा में नही होता उस समय इंद्रियों के पति (पुरुष) मन के द्वारा अनेक प्रकार के स्वप्नों को देखता है। वे स्वप्न कोई सफल तो कोई निष्फल होते हैं।

सत्त्व याने मन एक स्वतंत्र द्रव्य आयुर्वेद ने मान्य किया है। अणुत्व मन का गुण और चिंतन करना उस का प्रधान कार्य है। वह आत्मसंनिध रहनेवाला और इंद्रियों को चेष्टा प्रत्ययभूत होनेवाला द्रव्य है। मन एक ही है। अणुत्व गुण से वह शीघ्र ही हरएक इंद्रियों से संयोग करता है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या मन की चार स्थितियाँ हैं।

जागृति याने जागृतावस्था। इस अवस्था में मन बहिर्मुख रहकर इंद्रियों से इंद्रियार्थ लेने का कार्य करता है। स्वप्न में मन कुछ बहिर्मुख और बहुत अंशों में अंतर्मुख रहता है। इंद्रियों का सम्यक् ज्ञान इस अवस्था में नहीं होता है। जागृतावस्था में लिये हुओ इंद्रियार्थों का परिणाम इस अवस्था में अल्प मात्रा से होता ही रहता है। इस लिये साक्षात् अनुभव के समान दृश्य स्वप्न में दिखाई देते हैं। स्वप्न में मन बहुत अंशों में अंतर्मुख होता है और बाह्येंद्रियें सुप्त रहती हैं।

इंद्रियों के संस्कार केवल मन पर रहते हैं। इन में से निदिध्यासपूर्वक संस्कारों का परिणाम मनपर अधिक प्रभावी रहता है। वेही इंद्रियार्थ मन के सामने पुनः पुनः आते हैं। अर्थात् यह ज्ञान सापेक्ष होने से उसका अधूरा आविष्कार कुछ काल तक होता है। इस आविष्कार का सत्य के समान भास होता है। जब इंद्रियें जागृत रहती हैं तब यही ज्ञान सत्य होता है। इंद्रियजागृति की अपेक्षा से सत्यत्व प्रतीत होता है। और जब इंद्रियें जागृत नहीं रहती तब सत्याभास होता है। यही स्वप्न कहलाता है। इंद्रियार्थ अधूरी मात्रा में ग्रहण करने का मन का यत्न यही स्वप्न है।

मन और त्रिदोष–(त्रिदोषाणि द्रव्याणि प्रकरण देखिये)

त्रिदोषों में से वायुः—प्राणवायु मस्तक में रहकर बुद्धि, चित्त, इंद्रियें और हृदय को धारण करती है। प्राणवायु बाह्य इंद्रियों के विषय धमनियों के द्वारा मन के ओर ले जाती है। उदानवायु उर में रहकर ऐच्छिक क्रियाएँ, स्मृति और उत्साह उत्पन्न करती है। व्यान वायु हृदय में रहकर चलन पैदा करती है। सभी वायुओं का धमनियों के द्वारा वहन होता है और तदनंतर ये क्रियाएँ होती हैं।

त्रिदोषो में से पित्तः— साधक पित्त हृदय में रह कर बुद्धि, धारणा, अहंकार, इत्यादिओं द्वारा मनोरथ का साधन करता है तथा नीति भी निर्माण करता है।

त्रिदोषो में से कफः— मस्तक में स्थित तर्पक कफ मन सहित इंद्रियों का पोषण करता है।

वायु मन पर नियंत्रण रखती है याने मन को कुमार्ग से परावृत्त करती है और सन्मार्ग की ओर ले जाती है। समस्त

इंद्रियों से अपने अपने कार्य वह कराती है। योगशास्त्र भी मान्य करता है कि वायु द्वारा मन का नियंत्रण होता है। योगशास्त्र में की प्राणायामादि क्रियाएँ वायुद्वारा मन का नियंत्रण करने के लिये ही है। समस्त इंद्रियें मन के आधीन और मन वायु के आधीन रहता है।

रज और तम मन के दोष हैं।

आयुर्वेद में वर्णित पचन

पचन के स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार हैं। अन्न का स्थूल पचन शरीरस्थ महास्रोतस में होता है। वहाँ पचन क्रिया के बाद अन्नसे अन्नरस बनता है और तदनंतर सारकिट्ट विभजन हो कर महास्रोतससें शरीर में शोषण होनेलायक ऐसा आहाररस निर्माण होता है।

सूक्ष्म पचन में इस आहाररस से सप्तधातु, उपधातु और मल कैसे उत्पन्न होते हैं यह विषय समाविष्ट है।

स्थूल पचन

शरीर वृद्धि के लिये निम्नलिखित बातें कारणभूत होती हैं।

(१) काल :— युवावस्था में शरीरवृद्धि होना और वृद्धावस्था में ऱ्हास होना ये बातें काल से ही होती हैं।

(२) स्वभाव :— युवावस्था में समस्त शरीर घटकों की वृद्धि होना स्वभाविक है। स्वभाव अतर्क्य है।

(३) योग्य आहार :— शरीर को सात्म्य होगा ऐसा आहार योग्य है। योग्य आहार शरीररचना (प्रकृति) और सात्म्यासात्म्यात्व के अनुसार पृथक् पृथक् हो सकता है।

(४) योग्य विहार :— शरीर सहन कर सकेगा इतनी और ऐसी शारीर क्रीडा।

उपरोक्त काल और स्वभाव मनुष्य के आधीन न होने के कारण केवल आहार और विहार से शरीरवृद्धि कैसी होगी इस विषयपर विचार करना प्राप्त है। स्थूलपचन में आहार का ही संबंध है।

आहार स्वभावसे	:— स्थावर और जंगम,
आरोग्यसे	:— हितकर और अहितकर,
लेनेकी दृष्टिसे	:— खानेलायक, पीनेलायक चबाने लायक (खादित) और चाटने लायक (लीढ) होता है
रससे :—	छः प्रकार का,
गुणसे :—	बीस प्रकार का,
कर्मसे :—	अनेक प्रकार का होता है।

अन्न का स्थूल पचन की दृष्टि से विचार करने के पहले जिन मार्गों में से अन्न जाता है, जिन जिन भागों से उसका संबंध आता है, जहाँ उस का पचन होता है उन अवयवों की रचना का अभ्यास करना आवश्यक है।

महास्रोतस का आयुर्वेदीय दृष्टि से स्थूल और सूक्ष्म शारीर

मुखसे गुदातक जानेवाली नलिका को महास्रोतस् कहते हैं।
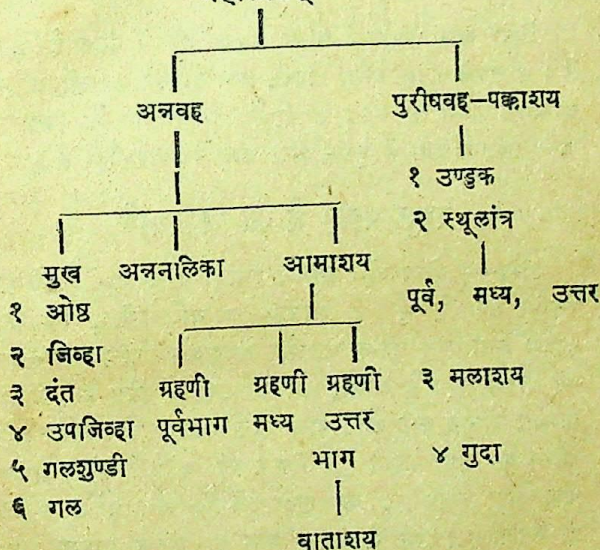
पचन की दृष्टि से उपयुक्त होनेवाले अन्य अवयव :— लालाग्रंथी, यकृत, पित्ताशय, अग्न्याशय, पित्तवाही नलिका हैं।

सूक्ष्म शारीर

जिव्हा, उपजिव्हा, गल, गलशुण्डी } रक्तमांस कफ घटित

दन्त	अस्थिघटित
अन्ननलिका आमाशय पक्वाशय	रक्तमांसघटित

शिरा और धमनियाँ समस्त महास्रोतस में दिखाई देती हैं। वे उनके द्वारा वात, पित्त, कफ ढो कर महास्रोतस में होनेवाले कार्यों की मदद करती हैं। आमाशय में पित्तधरा कला तो पक्वाशय में पुरीष धरा कला दिखाई देती हैं।

स्थूल पचन में की अवस्थाएँ

मुख— योग्य और सात्म्य अन्न मुख में आतेही केवल रसगंध सेवन से मुख में लालास्रवण याने सफेत, चिकना, श्लक्ष्ण ऐसी वस्तु का स्रवण और आमाशय में पाचकरस स्रवण को प्रारंभ होता है अर्थात् उन का उदीरण होता है। ये ही क्रमशः बोधक कफ और पाचकपित्त कहलाते हैं। बोधक कफ बोधन का कार्य करता है। (कफ का कार्य देखिये) बोधक कफ और पाचकपित्त का स्रवण केवल अन्न दर्शन से भी हो सकता है। उन में बोधक कफ का स्रवण प्राणवायु या उदान वायु के द्वारा होता होगा और पाचक पित्त का स्रवण (उदीरण) समान वायु द्वारा होता है। यह सत्य है कि शरीर में निर्माण होनेवाले अलग अलग स्राव वायु के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। जिव्हा और दाँत की सहायता से अन्न का चर्वण या पीड़न होता है। उसी समय अन्न में बोधक रस समाविष्ट होकर अन्न का क्लेदन होता है अर्थात् अन्न मुलायम

श्लक्ष्ण और चिकना होता है। बोधक कफ का अन्न पर होनेवाला दूसरा परिणाम यह है कि अन्न मधुर बन जाता है।

गला और अन्न नलिका:—मुख में श्लक्ष्ण, मुलायम और मधुर बना हुआ अन्न गला और अन्ननलिका में से आमाशय में प्रवेश करता है। प्राणवायु उन अवयवों में स्थित स्नायुओं को धमनियों के द्वारा प्रेरणा दे कर यह कार्य करता है।

ग्रहणी पूर्वभाग या अन्नाशय :— इसभाग में अन्न-नलिका में से आया हुआ अन्न संग्रहित किया जाता है। इसलिये इसे अन्नाशय कहते हैं।यहाँ अन्न पर चार क्रियाएँ होती हैं। (१) अन्न के साथ आये हुअे बोधक कफ का कार्य चालू रहता है। (२) अन्नाशय में के स्नायु के द्वारा अन्न का मंथन हो कर अन्न छोटे छोटे परिमाणु में रुपांतरित हो कर आगे ठेल दिया जाता है। (३) अन्नाशय में स्रवण होनेवाले पाचक पित्त से अन्न का आम्लीभवन हो कर पचन कार्य का प्रारंभ होता है। ग्रहणी में होनेवाले पाचक पित्त के स्रवण को अन्न के आम्लीभवन की आवश्यकता है।(४) क्लेदक कफ का कार्य।

मध्यग्रहणी—अन्न का आम्लीभवन होनेके बाद अन्नाशय के नीचे के छोर में स्थित सुषिरस्नायु वेष्टित द्वार में से मध्यग्रहणी में अन्न प्रवेश करता है। वहाँ, तीन प्रकारके स्रावों का उदीरण होता है। (१) यकृत में उत्पन्न होनेवाला पित्त प्रारंभ में पित्ताशय में संग्रहित हो कर आवश्यकता होने पर पित्तवह नलिका के द्वारा ग्रहणी में आतां है। (२) अग्न्याशय में निर्मित्त पित्त भी उसी पित्तनलिका द्वारा ग्रहणी में आता है। (३) तीसरा पित्त ग्रहणी के अंतर भाग में चिपके हुअे पित्तधरा कलाओं में उत्पन्न होता है। उन में से यकृत के

पित्त का कार्य स्निग्ध पदार्थोंपर होता है। अग्न्याशय का पित्त मांसयुक्त और पिष्टमय पदार्थोंपर कार्य करता है। पित्त धरा कलाओंका पित्त सभी प्रकारके अन्न का पाचन करता है। तदनंतर पित्तद्वारा पाचित अन्न को पित्त की कटुता के कारण कटुत्व प्राप्त होता है। सभी तरह के पित्तोंका समान कार्य पचन है और वह उन में स्थित अग्निद्वारा होता है। किंतु अन्नाशय में के पित्त से अन्न का आम्लीभवन होना, यकृत और अग्न्याशय में के पित्त से सारकिट्ट विभजन होना और पित्तधरा कला के पित्त से शोषण होना ये उनके विशेष कार्य हैं। शोषण और सारकिट्ट विभाजन का कार्य विशेषतः ग्रहणी के उत्तर भाग में होता है। पाचित अन्न आगे ठेलना यह कार्य भी ग्रहणी के स्नायु द्वारा होता है। ये सब कार्य समान वायु कराती है। (समान वायु का कार्य देखिये) समान वायु द्वारा ही पित्तों का स्रवण, सारकिट्ट विभजन, शोषण और अन्न को गति देना ये कार्य होते हैं।

उत्तरग्रहणी—ग्रहणी के उत्तर भाग में सारकिट्ट विभजन का बहुतसा कार्य पूर्ण होकर अन्न रस से वायु द्रव्य निर्मिति का प्रारंभ होता है। त्रिदोष में का यही वायु द्रव्य है। जोभी वायु अन्न के मलस्वरुप में उत्पन्न होता है तोभी जब तक वह उचित प्रमाण में है तब तक शरीर का यंत्र चलाने के लिये वह आवश्यक होता है। वायु का कार्य कितने महत्त्व का है यह आगे दिखाई देगा। इसके द्वारा ही शरीरस्थ वायु का धमानियों द्वारा पूरण होता है। शोषित सार भाग रसवाहिनियों द्वारा हृदय की ओर लिया जाता है।

पुरीषवह स्रोतस्—सारकिट्ट विभजन और वायु का उत्पात्ति का कार्य कुछ काल तक पुरीषवह स्रोतस के पूर्वभाग में चालू ही रहता है। ग्रहणी में अशोषित अन्नरस उण्डुक में समान वायु द्वारा ठेला जाता है। उण्डुक और ग्रहणी उत्तर भाग के मध्य में एक सुषिर स्नायु होता है जिस से अन्न रस पीछे नहीं आ सकता। सारकिट्ट विभजन का कार्य पुरीषवह स्रोतस के पूर्व भाग में पूर्ण होता है। पुरीषवह स्रोतस के उत्तर भाग में पुरीषधरा कलाएँ अधिक संख्या में दिखाई देती हैं और उनके द्वारा किट्टों में का द्रव भाग महास्रोतस से रक्त में शोषित होता है। किट्ट में कां द्रव भाग याने अन्नमें का और अन्नके साथ लिया हुआ आप्य द्रव्य है। इस द्रव्य द्वारा ही मूत्रका पूरण होता है। यह द्रव भाग शोषित होने के वाद पिंडीत ऐसा पुरीष मलाशय में एकत्रित हो कर तदनंतर अपान वायु के सहाय्यतासे मलद्वार से बाहर फेंक दिया जाता है।

इसतरह अन्न से वायु, पुरीष और मूत्र का पूरण करनेवाला आप्य द्रव्य—ऐसे तीन मल द्रव्य उत्पन्न होते हैं।

किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यंति। च. सु. २८–२ उसपर चक्रदत्त का व्यक्तव्य–अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतोवायुश्च।

अन्न से जो किट्टांश उत्पन्न होता है उससे मूत्र पुरीष और वायु पैदा होते हैं।

शरीर के दोषधातुमल को पोषक और शरीर को सात्म्य ऐसा आहाररस अन्न द्वारा जिस क्रिया से होता है उसे आहार

परिणाम या स्थूलपचन कहते हैं। उस आहार परिणाम को निम्न लिखित भावों की आवश्यकता है।

आहारपरिणामकरास्त्विमेभावा भवन्ति । तद्यथा ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः संयोगश्चेति ।

च. शा. ६।१६

१ त्रिदोष { वायुः—प्राण, उदान, समान, अपान ।
पित्तः—(जठराग्नि) पाचक पित्त ।
कफः—बोधक, क्लेदक ।

२ काल—काल पचनक्रिया संपूर्ण करता है।

३ समयोग—अन्नपानाविधि विशेषोंका समयोग।

पचनसमय में होनेवाले त्रिदोषों का उदीरण

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुरात्प्राक्कफोद्भवात्फेनभूत उदीर्यते ॥
परंतुपच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्चवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुःस्यात्कटुभावतः ॥

च. चि. अ. १९।७४-९

हम जो षड्रसयुक्त अन्न खाते है उसके पचन में की प्रथम अवस्था को प्रपाक कहते हैं। अन्न मुख में डालने के बाद प्रथम उसका मधुरीभवन होता है। इसी अवस्था को प्रपाक (अवस्थापाक) कहते हैं। इस मधुरीभवन से ही कफ का उदीरण होता है। उदीरण याने प्रेरणा देना, उत्सर्जन करना (उत्–ईर्) या प्रकट करना। आमाशय में अन्न जाने के

बाद पाचक पित्त से उसका आम्लीभवन होता है और तद-नंतर ग्रहणी में उत्पन्न होनेवाले पाचक पित्त का उदीरण होता है। उससे वाताशय में के आहार रस को कटुत्व प्राप्त हो कर शोषण के कार्य को प्रारंभ होता है और उस को परिपिण्डित्व प्राप्त होकर वायु का उदीरण होने लगता है। ये तीनों ही दोष पचन समय में उपयुक्त होने के कारण उन का शरीरोप-कारक उन्मार्गगमन होता है।

अन्नपर पाचक अग्नि की क्रिया होने के बाद जो आहार रस निर्माण होता है वह विपाक कहलाता है। उस में सार और किट्ट इन दोनों का ही मिश्रण समाविष्ट रहता है।

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसांतरम्।
रसानां परिणामान्ते सविपाक इति स्मृतः॥

वा. सू. अ. ९।२०

स्वादुः पटुश्च मधुरम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥

वा. सू. ९।२१

मधुर और लवण का मधुर विपाक, आम्ल रस का आम्ल विपाक तथा तिक्त, कटु, और कषाय रस का विपाक प्रायः कटु होता है।

रसैरसौ तुल्यफलः।

विपाक रसों के समान फल देनेवाला है।

सामदोष विचार

उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥

वा. सू. १३।२५

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्य मूर्च्छनात् ॥
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदंत्यामस्य संभवम् ॥
वा. सू. १३।२६

अग्नि के दुर्बल होने के कारण रस नामक प्रथम धातुका पचन न होने से आमाशयगत दूषित रस को आम कहते हैं। अन्यही प्रकार से आम की उत्पत्ति होती है। अतिदूषित हुअे दोषों के परस्पर मिलने से ही आम की उत्पत्ति मानते हैं जैसे कि कोद्रो से विष उत्पन्न हो जाता है।

आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥
वा. सू. १३।२७.

इस आम से मिले हुअे दूषित वातादि दोष और रक्तादि धातु आमसहित (साम) ऐसे कहे जाते हैं और वातादि जन्य रोगों को इस आम से मिले, साम रोग कहते हैं।

आम याने अपाचित आहार रस। वह दुर्बल अग्नि से उत्पन्न होता है। प्रकुपित दोषों के परस्पर मीलन से आम उत्पन्न होता है ऐसा कोई मानते हैं। साम दोष विचार को चिकित्सा दृष्टि से बहुत महत्त्व प्राप्त होता है। क्योंकि सामदोषों का पचन किये बिना शोधन चिकित्सा नुकसान पहुचाती है।

आम का संबंध केवल दोषों के साथ ही आता है ऐसा नहीं तो सूक्ष्म पचनमें भी आम की निर्मिति होती है याने धातुओं को भी सामत्व प्राप्त होता है।

स्थूल पचनमें उत्पन्न होनेवाले आम का पचन नजदीक मार्ग से हो सकने के कारण सुलभ साध्य है। धातुमें स्थि:

	अस्थि	मज्जा	शुक्र–आर्तव
आगे के धातुओं की उत्पत्ति	मज्जा	शुक्र	किसीकी रायसे शुक्रका सार-ओज
उपधातु और मल	बाल, श्मश्रु, लोम, नाखुन ।	नेत्र-और त्वचामेंका मल	किसीकी रायसे शुक्रका मल-ओज
तत्सारप्रकृति वर्णन	पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरः पर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदंताश्चास्थिसारास्तेमहोत्साहाः क्रियावन्तश्च क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च । च. वि. ८।११७ अस्थिसार मनुष्योंके गुल्फ, जानु, अरत्नि (कफोणिका), जत्रु, चिबुक, मस्तक और संपूर्ण संधि तथा अस्थि, नख, और दाँत ये सब स्थूल होते हैं । वह मनुष्य महोत्साही, क्रियावान् क्लेश सहन करनेवाला, सारयुक्त तथा दृढ़ शरीरवाला और दिर्घायु होता है । महाशिरःस्कंन्धं दृढदंतहन्वस्थिनखमस्थिभिः । सु. सू. अ. ३५–१६	तन्वांगाःबलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्त-संधयश्च मज्जसारास्ते दीर्घायुषो बलवन्तः । च. वि. ८–११८ मज्जासार मनुष्य पतली देहवाले, बलवान, चिकने वर्ण और स्वरवाले होते हैं । इनके संपूर्ण संधि दृढ, स्थूल, लंबे और गोल होते हैं । ये मनुष्य दीर्घायु और बलवान होते हैं ॥ अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगंभीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा । सु. सू. ३५–१६	श्रुतविज्ञानवित्तापत्यसम्मानभाजश्चसौम्याः क्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः वृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धव भ्राजिष्णवोमहास्फिचश्च शुक्रसारास्ते स्त्री प्रियाः पभोगा बलवन्तः । च. वि. ८ शुक्रसार मनुष्य शास्त्र, ज्ञान, धन, संतान यु सन्मानके योग्य होता है । तथा सौम्य, सुंदर स्वरूप, कांतिवाला, पूर्ण और प्रसन्न नेत्रोंवाला होता है । चिक वाला, धनयुक्त, सुंदर, सुडौल तथा खूबसूरत दंतपं होता है । एवम् स्वर, वर्ण उत्तम और चिकने होते यह कांतिवान और बड़े नितंबोंवाला, अधिक वीर्ययु योंका प्यारा, कामी तथा बलवान होता है । स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदंतनखं बहुलकामप्रज शु सु. सू. ३

पर अस्थि
जिससे अस्थि
उत्पन्न होते

मज्जा

पोषक अस्थिधातुपर मज्जाग्निका कार्य मज्जावाही स्रोतसमें होकर मज्जाधातु उत्पन्न होता है। अस्थियोंमें स्थित छिद्रोंमें जो मेद भरा हुआ रहता है उसीको ही मज्जा कहते हैं। अर्थात् उसका स्वरूप मेदसे पृथक् होता है।

अस्थि और संधि।
२५ दिन।
———
अस्थि और संधि।

पोष्य और पोषक।
सुश्रुतः—निश्चित नहीं हैं।
चरकः—एक अंजली

शुक्रपुष्टि और अस्थिपूरण।
स्नेह, बल और प्रीति।

शुक्र–आर्तव

वायु और आकाश इन महाभुतोंसे अस्थियोंमें छोटे रंध्र निर्माण होते हैं। पोषक मज्जा धातुपर शुक्राग्निका कार्य शुक्रवाही स्रोतसमें होकर जैसे नये मिट्टीके बर्तनमेंसे पानी टपकता है वैसे ही शुक्रका स्रवण होता है। स्त्रियोंमें आर्तव आर्तववाही स्रोतसमें निर्माण होता है।

शुक्रवाही स्रोतस, सर्वदेह, आर्तववाही स्रोतस।
१ महीना।
शुक्रवाही स्रोतस् और आर्तववाही स्रोतस्।
चः— वृषण, मेढ्र। सुः— स्तन, मेढ्र। गर्भाशय और आर्तववाहिनियाँ। शुक्रसमस्त देहमेंसे स्रवता है ऐसा माना गया है।
पोष्य और पोषक।
सुः— निश्चित नहीं है।
चः— आधी अंजली। आर्तव-चार अंजलियाँ। शुक्र और आर्तवकी अभिव्यक्ति यौवनावस्थामें ही होती है।
सौम्य, स्निग्ध, गुरु, शुक्ल, मधुरगंध, मधुर।
आर्तव—रक्तवर्णका।
दोनोंही गर्भको कारणभूत होते हैं।
धैर्य, बल, प्रीति, हर्षच्यवनकारक, दशप्राणायतनोंमें से एक।

ओज

शुक्रके सूक्ष्म और पोषक भागोंसे ओज पैदा होता है जिसमें सप्तधातुओंका तेज समाविष्ट रहता है। इसलिये वह स्वतंत्र धातु नहीं माना गया। सुविधाके लिये धातुओंमें उसका वर्णन दिया गया है।

सर्वदेह।
ओजोवाहिनियाँ।
परं ओज–हृदयमें। सार्वदेहिक ओज–समस्त शरीरमें

ओजस्तु तेजोधातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपिव्यापि देहस्थितिनिबंधनं॥
वा. सू. ११-३७

परं ओज और सार्वदेहिक ओज (श्लेष्मिक)

चः–८ बुंद–परमोज, आधी अंजली–सार्वदेहिक ओज।

स्निग्ध, स्थिर, मृदु, श्लक्ष्ण, शुक्ल और पीला या किंचित् लाल।
उसपर शरीरका बल और तेज निर्भर है।
प्राणायतनोंमेंसे एक। तुष्टि और पुष्टिदायक।

सामत्व का पचन करने के लिये महास्रोतस को लांघ कर जाना पडता है इसलिये वह कार्य कठिन होता है। परंतु परस्पर मीलन से होनेवाला आम तीक्ष्ण और सूक्ष्म होने के कारण उसका पचन करना बहुत कष्टदायक होता है।

सामदोषलक्षण

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढता।
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसंगारुचिक्लमाः।
लिंगं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः।
वा. सू. १३-२३-२४.

स्रोतों का रुकना, बल की हानी, भारीपन, वायु का अवरोध, आलस्य, आहार का न पकना, मुखस्राव, पुरीषादि की अप्रवृत्ति, अरुचि, ग्लानि ये आमवाले दोषों के लक्षण हैं। निराम दोषों के लक्षण इन से विपरीत होते हैं।

अग्नि

अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम्।
दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम्॥
वा. शा. ३-४९.

कोई अन्न को पकानेवाले पाचक पित्त के उष्मा को जठराग्नि कहते हैं। वातादिदोष रसादिधातु और मल आदि का उष्मा जठराग्नि है ऐसा अत्रिपुत्र का कहना है।

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता।
सैव धन्वंतरिमते कलापित्तधराह्वया॥
वा. शा. ३-५०.

आयुरारोग्यवीर्यौजो भूतधात्वग्निपुष्टये ।
स्थिता पक्वाशयद्वारिभुक्तमार्गार्गलेवसा ॥
वा. शा. ३—५१

अग्नि का अधिष्ठान जो ग्रहणी उसके अंतरभाग में चिपके हुअे पित्तधराकला से पित्त के आश्रय से वह पैदा होता है । महास्रोतसके जिस भाग से अन्न का ग्रहण होता है वह ग्रहणी कहलाता है । यह जठराग्नि आरोग्य, वीर्य, ओज, तथा पंचमहाभूतोंके पांच और सप्त धातुओंके सात अग्नियोंका पूरण करता है । ग्रहणी अवयव पक्वाशय के प्रारंभ तक रहता है ।
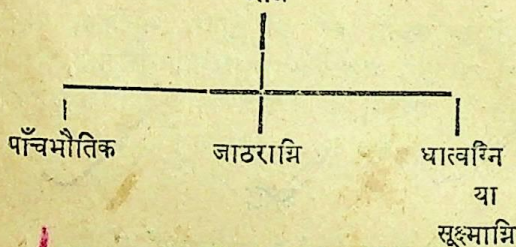
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकः ॥
वा. शा. ३।७१

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेंधनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥
वा. शा. ३।७२

सब अग्नियों के मध्य में जो अन्न का पाचक जाठराग्नि है वह सबसे अधिक बलवान है क्यों कि वह जाठराग्नि ही भौतिक आदि अग्निओं का मूल है । जाठराग्नि के ही बढने या घटने

से ये दूसरे भौतिकादि अग्नि बढ़ते या घटते हैं। इसलिये इस जाठराग्नि को विधिपूर्वक योग्य इंधनरुपी हितकारी खानपान से प्रयत्नपूर्वक हम रक्षा करें। इस अग्नि के स्थित रहने से वायु और बल की प्राप्ति होती है।

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः ।

वा. सु. ११–३४

ग्रहणी में स्थित कायाग्नि के अंश रक्तादि धातुओमें स्थित है।

जाठराग्नि का कार्य

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥

च. चि. अ. १९–१

मनुष्य की आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ, उत्साह, उपचय, प्रभा, ओज, दृष्टि, भूताग्नि, धात्वग्नि तथा प्राण आदि को अग्नि ही कारणीभूत होता है। संक्षेप में अग्नि ही सबका आधार समझा जाता है।

शरीर में अग्नि से अन्न का परिवर्तन आहार रस में होता है वैसा शरीर के बाहर अन्नरस पैदा नही हो सकता अतएव शरीर में के अग्नि में कुछ प्रभावी शक्ति है यह स्पष्ट होता है। अग्नि पित्त द्रव्य का आश्रय कर के रहता है और वह पित्त के तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दुर्गंधि, सर आदि गुणों में से एक है। यह उष्मा शरीर में प्रभावी कार्य करता है। बहुत समय अग्निमांद्य में उष्णवीर्य द्रव्य खाने को दे कर पित्तवृद्धि की चिकित्सा की गयी है। इससे अग्नि पित्ताश्रयी है यह सिद्ध होता है। अग्नि का प्रमुख कार्य पाचन है और पित्त के विना पाचन नहीं हो सकता अतएव अग्नि पित्ताश्रयी है। शक्ति या

प्रभाव द्रव्य में ही प्रतीत होता है। पित्त यह एक द्रव्य होने के कारण अग्नि उस द्रव्याश्रित रहता है ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

अग्नि के चार प्रकार होते हैं सम, विषम, तीक्ष्ण और मंद।

पित्त और अग्नि की तुलना

पित्त	अग्नि
द्रव्य है।	पित्त में का एक उष्ण गुण है।
अन्य पित्त के कार्य।	केवल पाचन।
आश्रयस्थान	आश्रयी
द्रव, स्निग्ध और अधोग (नीचे जानेवाला)	द्रव का शोषण करनेवाला, रूक्ष ऊर्ध्वग (उपर जानेवाला)

पांचभौतिक अग्नि के कार्य

भौम्याप्याग्नेयवायव्यां पंचोष्माणः सनाभसाः।
पंचाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचंति हि ॥

च. चि. १९-११

यथास्वैरेव पुष्यन्तैर्देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषाश्च कृत्स्नशः ॥

च. चि. १९-१२

शरीर पांचभौतिक है। उन पाँचो भूतों के पार्थिव, आप्य, अग्नेय, वायवीय और आकाशीय ऐसे पाँच प्रकार के अग्नि शरीर में है। हम जो अन्न खाते हैं, वह पांचभौतिक ही होता है। अपने खास अग्नि से खाये हुये अन्नमें के पंचमहाभूतोंके पार्थिवादि अंशों का पचन होता है और पंचमहाभूतात्मक शरीर के तथा पदार्थों के अपने अपने गुणों को पुष्टि

मिलती है। अन्न के गुरु खरादि पार्थिव गुणों का पचन पार्थिव अग्नि से हो कर शरीर के पार्थिव गुणों की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों के गुणों के बारे में भी होता है।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः॥

च. चि. १९-१३.

तथा रसादि सातधातुओं का उन्हींकि अग्नि से पचन होकर उनसे मल और प्रसाद ऐसे दो प्रकार के परिणाम होते हैं याने पहले धातु का पचन हो कर आगे के प्रसाद धातु और मल उत्पन्न होते हैं। यह कार्य स्रोतस् और वायु की सहायता से होता है।

उसके अतिरिक्त पांचभौतिक अग्नि-शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंधादि से युक्त अन्न का पचन करके देह में के विशिष्ट गंधादि गुणों का और उनके ग्रहण करनेवाली इंद्रियों का पोषण करता है।

सूक्ष्मपचन

स्थूल पचन में वायु पुरीष और मूत्र (मूत्रपूर्व द्रव्य) ये मल और शरीर को सात्म्य ऐसा आहारस निर्माण होता है। यह रस सिरा और रसवाहिनिओं के द्वारा शोषित होता है। उस पर सूक्ष्माग्नि या धात्वग्नि की क्रिया हो कर सप्तधातु, उपधातु और शेष मल उत्पन्न होते हैं। उसी को ही सूक्ष्म पचन और अनुपाक कहते हैं।

सूक्ष्मपचन के लिये निम्नालिखित भावों की आवश्यकता होती है।

(१) त्रिदोष
- वायु:—व्यानवायु.
- पित्त:—धात्वग्नि या सूक्ष्माग्नि.
- कफ:—द्रवगुण से युक्त क्लेदक कफ.

(२) सात्म्य आहार रस

(३) स्रोतस

सूक्ष्मपचन में की अवस्थाएँ

(१) आहार रस का सिरा और रसवाहिनिओं द्वारा हृदय में प्रवेश।

(२) व्यानवायु के कारण रस का सब शरीर में सिराओं के द्वारा विक्षेपण और उसके कारण–

(३) रस का समस्त शरीरस्थ धातु और उपधातुओं के साथ सान्निध्य।

(४) रस का त्रिदोष और स्रोतसों की सहायता से आगे के धातुओं में परिवर्तन।

आहार रस से सूक्ष्मपचन में निम्नवर्णित धातु, उपधातु और मल पैदा होते हैं।

धातु:—क्रम से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

वा. सू. १-१३

उपधातु:—कंडरा, सिरा, वसा, स्नायु, त्वचा, पिच्छा, संधिबंध, और स्त्रियों में उपरानीर्दिष्ट के अतिरिक्त रज और स्तन्य।

किट्ट या मल:—कफ, पित्त, तथा कर्ण, अक्षि, नासिका, आस्य प्रजनन–मल, बाल, श्मश्रु, लोम, नख, लसिका स्वेद आदि। (पन्ना ३९ देखिये)

आहाररससे रसादि सात धातुओंका उनके धात्वग्नि द्वारा पचन होता है। तदनंतर उनसे मल और प्रसाद बनते हैं। अन्न रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा, मज्जासे शुक्र और शुक्रसे गर्भ इस क्रमसे उत्पत्ति होती है तथा रससे स्त्रीके स्तनमें दूध और रक्त (रज), रक्तसे कंडरा और सिरा, मांससे वसा और छः प्रकारकी त्वचा तथा मेदसे स्नायु पैदा होते हैं। रसका मल कफ, रक्तका पित्त, मांसका मल नाक और कानमेंका स्नेह, मेदका मल स्वेद, हड्डिओंका मल बाल, लोम और नाखुन, तथा मज्जाका मल अक्षिविट् और त्वचामेंका स्निग्ध भाग इस तरह धातुओंका पचन होकर उनसे प्रसाद और मल बनते हैं। मलभी जबतक शरीरको उपयुक्त होते हैं तबतक वे प्रसादरूपी होते हैं।

धातुओंका स्नेह याने सार। रसादि सप्तधातु आपसमें रूपांतरित होकर बनते हैं। रससे शुक्रतक सभी धातु एक दुसरेके सारसे बनते हैं। इसके कारण रसादिधातु उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेष्ठ होते जाते हैं। चरक सुश्रुतादि प्राचीन आचार्योंमें धातुओंके उत्पत्ति क्रमके बारेमें मतभेद नहीं है। रसादि सात धातु एक दूसरेसे पैदा होते हैं। वे जिससे उत्पन्न होते हैं उन धातुओंसे अधिक भारी और श्रेष्ठ होते हैं। यही कारण उनके उत्पत्ति क्रमके प्राप्त होता है क्योंकि भारी पदार्थोंके पचनको अधिक समय लगता है। धातुओंके पचनकालमें ही मलोंकी उत्पत्ति होती है। चरकाचार्यकी रायमें धातुओंकी उत्पत्ति अखंड होती रहती है। धातु जल्द या देरमें पैदा होना अग्नि-

बलपर निर्भर है। सुश्रुताचार्य मानते हैं कि आहार रससे शुक्रतक धातु उत्पन्न होनेके लिये जो काल लगता है वह इस प्रकार है। रस १ दिनमें, रक्त ५, मांस १०, मेद १५, अस्थि २० मज्जा २५ शुक्र ३०। पराशरकी रायमें रस एक दिनमें और शुक्र आठ दिनमें बनता है।

वृष्यादि पदार्थोंसे जो तुरंत वीर्यवृद्धि होती है वह उनके प्रभावके कारण। लेकिन अन्य पदार्थोंका क्रमशः परिणमन होकर वे पदार्थ शुक्रधातु तक पहुँचते हैं। अन्नरससे शुक्रतक पोषक धातुओंका पूरण किसी चक्रके समान लगातर चलता है और आगे ओजही निरंतर पैदा होता है बीचमें बिलकुल खंड नहीं होता।

मनुष्यके आहाररसमें जो तेजस् अंश स्थित है वह पित्तमेंकी उष्णता और रंजकताके द्वारा रसको लाल रंग देता है जिससे रससे रक्त बन जाता है। आगे चलकर उस रक्तमें वायु और तेजकी उष्णता मिलकर वह स्थिर होता है और उसको मांसका रूप आता है। पृथिव्यादि महाभूतोंके समूह अपनी उष्णतासे खुरदरा बनता है और उससे मांससे हड्डियाँ बनती हैं। उनमें वायु छिद्र उत्पन्न करती है और उन छिद्रोंमें मेद भर जाता है। उस स्निग्ध पदार्थकोही मज्जा कहते हैं। उस मज्जाका जो स्निग्ध अंश है उसीसेही शुक्र बनता है। आकाशादि पंचमहाभूतोंके द्वारा हड्डियोंमें सूक्ष्म रंध्र पैदा होते हैं और नये घटसे जैसे पानी टपकता है वैसे संपूर्ण शरीरमेंसे शुक्रवाहक स्रोतससे शुक्र स्रवता है।

धातुपरिणामवाद
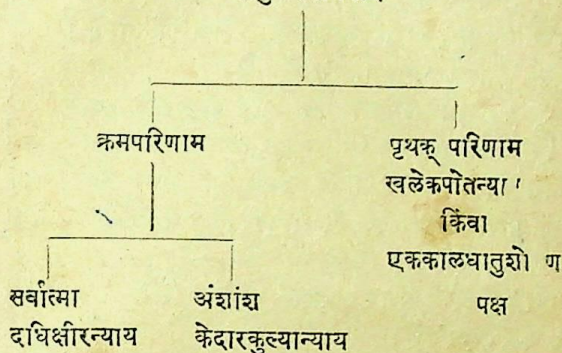
(१) सर्वात्माक्रमपरिणामन्याय

इस न्यायके अनुसार संपूर्ण रसधातुका रक्तमें रूपांतर होता है जैसे दूधमें खटाई मिलानेसे संपूर्ण दूधका दुग्धत्व नष्ट होकर उससे सर्वांशी दही जम जाता है। तदनंतर संपूर्ण रक्तका मांसमें और मांससे आगेके धातु क्रमसे इसीतरह उत्पन्न होते हैं। धातुओंका उत्पत्ति क्रम समस्त आचार्योंको मान्य है और यह क्रम उपर दिया है।

(२) अंशांश परिणामपक्ष और केदारकुल्यान्याय

इस मतप्रणालीनुसार रसधातुपर रक्ताग्निकी क्रिया होनेके बाद संपूर्ण रसका रूपांतर रक्तमें नहीं होता तो रससे स्थायी-रक्त (पोष्यरक्त) और अस्थायी रक्त (पोषकरक्त) याने रक्तधातु सदृश आहाररस उत्पन्न होता है। तदनंतर

अस्थायी रक्तपर मांस धात्वाग्निकी क्रिया होती है जिससे संपूर्ण रक्तका मांसमें रूपांतर नहीं होता तो रक्तसे स्थायी मांस (पोष्य मांस) और अस्थायी मांस (पोषक मांस) याने मांसधातु सदृश आहाररस उत्पन्न होता है। इसी पद्धतिसे आगेके धातु निर्माण होते हैं।

(३) पृथक्परिणामपक्ष और खलेकपोतन्याय

इस मतके अनुसार सभी धातुओंका पोषण अलग अलग मार्गोंसे और स्वतंत्र रीतिसे होता है। इससे रसको शुक्र धातुके पोषणके लिये रक्तादि धातुओंकी अवस्थामेंसे जानेकी आवश्यकता नहीं है।

सर्वात्मापरिणामपक्ष अग्राह्य होनेके लिये निम्नलिखित दूषण बताये जाते हैं।

(१) तीन या चार दिनोंके उपवाससे जीवन प्रीणन करनेवाले धातु नष्ट हो जायेंगे और एक महिनेके उपवाससे शरीरमें केवल शुक्रधातुही बाकी रहेगा।

(२) अगर रसदुष्टी होगी तो सभी धातु दुष्ट होंगे।

(३) सद्यः शुक्रकर (सीधे शुक्रकी निर्मिति करनेवाले) द्रव्योंका रूपांतर शुक्रमें होनेके लिये अधिक अवधि लगेगा।

(४) मोटे अदमीमें—जिसमें मेदवृद्धि हुई है—अस्थिवृद्धिही दिखाई देती है, परंतु व्यवहारमें यह दिखाई नहीं देता है।

उपरोक्त दोष अंशांश परिणामपक्ष और पृथक्परिणाम पक्षमें नहीं हैं इसलिये दोनोंही ग्राह्य हैं। किंतु गौरसे देखनेसे पृथक् परिणाम पक्षमें निम्नलिखित दोष मालुम हो जाते हैं।

(१) "रसाद्‍रक्तं ततोमांसम्" इस सूत्रके रचनासे स्पष्ट होता कि रससे मांस ऐसी क्रमशः धातुओंकी निर्मिति

धातु परिणाम

मूलधातु या द्रव्य	स्रोतस्	अग्नि	परिणत धातु	उपधातु	मल
अन्न	महास्रोतस्	जाठराग्नि	आहाररस	—	वात, पुरीष, मूत्र (मूत्रपूर्व द्रव्य)
आहाररस	रसवह स्रोतस्	रसाग्नि	पोष्यरस और पोषक रस	रज और स्तन्य	कफ और लसिका
पोषक रसधातु (रसधातु सदृश आहाररस)	रक्तवह स्रोतस्	रक्ताग्नि	पोष्यरक्त (स्थायी) पोषक रक्त (अस्थायी)	कंडरा और सिरा	पित्त
पोषक रक्त (रक्तधातुसदृश आहाररस)	मांसवह स्रोतस्	मांसाग्नि	पोष्यमांस और पोषक मांस	त्वचा और वसा	कर्ण, आक्षि, नासिका आस्य, लोमकूप, प्रजनन आदिका मल

(पोषकमांस मांसधातुसदृश आहार रस)	मेदोवह स्रोतस्	मेदाग्नि	पोष्यमेद और पोषकमेद	—	स्वेद
पोषकमेद (मेदधातु सदृश आहाररस)	अस्थिवह स्रोतस्	अस्थ्यग्नि	पोष्यअस्थि और पोषक अस्थि	—	बाल, श्मश्रु, लोम, नाखुन
पोषक अस्थि (अस्थि धातु सदृश आहाररस)	मज्जावह स्रोतस्	मज्जाग्नि	पोष्य मज्जा और पोषक मज्जा	—	अक्षिविट् और त्वक्स्नेह
पोषक मज्जा (मज्जाधातु सदृश आहाररस)	शुक्रवह स्रोतस्	शुक्राग्नि	पोष्य शुक्र और पोषक शुक्र	—	ओज कुछ आचार्य ओजको समस्त धातुओंका तेजरूप सार मानते हैं।
पोषक शुक्र	सर्वदेह	—	—	—	—

होती है तो पृथक्परिणाम पक्षके अनुसार रससे रक्त, रससेही मांस इस पद्धतिसे धातु बनते हैं। इसलिये उपरोक्तन्याय इस सूत्रसे मेल नहीं खाता है।

(२) साक्षात् अनुभवमें दिखाई देता है कि रसरक्त धातु एकही समय ओर धातुओंका पोषण करते हैं तो इस मत-प्रणालीनुसार रसरक्त धातु पृथक् पृथक् समयपर ओर धातुआका पोषण करते हैं और शुक्र धातु तो सबसे आखिरमें याने एक महिनेके बाद पुष्ट होता है।

इसलिये गहराईसे विचार करनेके बाद मालुम होता है कि अंशांशपरिणामपक्ष यही संपूर्ण दोष विरहित है। आलोचक चक्रदत्त, हरित, डल्लण, शिवदास आदिको यही पक्ष मान्य है।

पंचमहाभूतेभ्यो दोषधातुमलानामुत्पत्तिः।

धातु और मलोत्पत्ति विचार

धारणाद् धातवः। याने जो द्रव्य शरीर को धारण करते हैं वे धातु कहलाते हैं। मलिनीकरणात्मलाः। याने जो द्रव्य शरीरमें मालिन्य उत्पन्न करते हैं उनको मल कहते हैं।

विविधमाशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमाग्निसंधुक्षित-बलेन यथा स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं काल-वदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः-केवलं शरीरमपुचयबलवर्णसुखायुष्या योजयति शरीर-धातूनूर्जयति। "धातवो हि धात्वाहाराः" प्रकृति-मनुवर्तते। तत्राहार प्रसादाख्योरसः किट्टंच मलाख्यमभि-निर्वर्तते। किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णा-

क्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति । पुष्यन्ति ह्याहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रौजांसि पंचेंद्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसंधिबंधपिच्छादयश्चावयवाः । ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वंमानमनुवर्तन्ते यथावयःशरीरम् । एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय । किट्टं च मलानामेवमेव स्वमानातिरिक्ताश्चोत्सर्गिणः शीतोष्णपर्यायगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यंते । तेषान्तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्त्रोतांस्ययनमुखानि तानि यथास्वं यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्तिएवमिदं शरीरमशितपीतलीढखादितप्रभवमशितपीतलीढखादितप्रभवाश्चास्मिन शरीरे व्याधयो भवन्ति हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा भवन्तीति ॥

च. सू. २८।२

पुरुष निगलनेके पीने के चाटने के और चबाने के अनेक प्रकार के हितकारक पदार्थ भक्षण करता है । खाने के समस्त पदार्थ पृथिव्यादि पंचमहाभूतों से निर्माण हुअे हैं । हरएक महाभूतों में उसका एक एक खास अग्नि रहता है । खानेवाले के जाठराग्नि की उष्णतासे शरीरस्थ पंचमहाभूतों के अग्नि प्रदीप्त होकर खाये हुअे पदार्थ अच्छीतरह से पाचित होते हैं।

इसतरह से पाचित अन्न स्वस्थ शरीर के बल, वर्ण, पुष्टता, सुख तथा आयु की वृद्धि करता है। वह शरीर स्वस्थ माना जाता है जिसमें सात धातुओं का पाक अखंड चालू रहता है जैसे काल लगातर चलने के कारण अनवस्थित है। तथा स्वस्थ शरीर में धातुओं के उष्णता याने धातुपाचक अग्निसे बने हुओ धातुपोषक रस को संपूर्ण शरीर में पहुचानेवाला व्यान वायु और उसको ढोनेवाले सब स्त्रोत यथोचित काम करते हैं। शरीरस्थ रसादि धातु हमेशा क्षीण होते रहते हैं। ये धातु धात्वाहार सेवन करके अपनी हुई कमी की पूरण कर के फिर उनके स्वभाविक स्वरूप पर आते हैं। धातुओंके आहार धातुही होते हैं। जिससे जो धातु उत्पन्न होता है वह उसका धात्वाहार कहलाता है। याने रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे भेद इस क्रमसे धातु बनतें हैं। रक्तका आहार रस, मांस का रक्त, एवं अन्य धातुओंके आहार है। रक्त क्षीण होगा तो रस का रक्त बनकर उसका पूरण होता है। खाओ हुओ अन्नसे उसका परिपाक होने के बाद दो विभाग हो जाते हैं। उन में जो उत्तम सार होता है उसको आहार प्रसाद कहते हैं और जो निरुपयोगी बचता है उस को किट्ट और मल कहते हैं। उस किट्टसे मूत्र, स्वेद, विष्ठा, वायु, पित्त, कफ ये उत्पन्न होते हैं। एवं कान नेत्र घ्राण, मुख, रोमकूप इन सबका मल तथा बाल, स्मश्रु, रोम और नाखुन ये संपूर्ण उस किट्ट के अंशों से बनते हैं। आहार का जो सार भाग (आहारप्रसाद) है वह शरीर को पुष्ट करता है तथा उस रससे निम्नलिखित भागोंका पोषण होता है जैसे:—सप्तधातु, प्तधातुओंका सारभाग ओज, पंचज्ञानेंद्रियों के समवायी

कारण पृथिव्यादि पंचमहाभूत, धातुओंका बल, शरीर के संधि-ओंको दृढता देनेवाले स्नायु आदि। समस्त धातु दो भाग में विभक्त है एक प्रसादसंज्ञक और दूसरा मलसंज्ञक। ये दोनों साररूप रसों से और शरीर रक्षक मलों से पुष्ट होकर अपनी परिमाणों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार के अनुसार अपने प्रमाणमें स्थित हुअे धातु (रसादि और मल) अपने आश्रित शरीर की साम्यावस्था रखते हुअे रक्षा करते हैं। एवं कारण विशेषसे प्रसादसंज्ञक धातुओं की आहारमूलक वृद्धि और क्षीणता को रससाम्यावस्थामें लाता है और मनुष्य की आरोग्यताको रखता है। जिस प्रकार रस संपूर्ण धातुओंको साम्यावस्था में रखता है इसीप्रकार किट्टभी संपूर्ण मलोंको साम्यावस्था में रखता है। अपने ठीक परिमाणपूर्वक निकलते हुअे मल (तथा वात, पित्त, कफ भी) शीत, उष्ण आदि गुणोंसे परिवर्तित होते हुअे धातुओं को साम्यावस्थामें करनेवाले होते हैं। अथवा यों कहिये कि अपने मानसे क्षीणता और वृद्धि को प्राप्त हुअे मल शीत उष्ण द्रव्यों द्वारा चिकित्सित होकर असाम्यावस्थाको प्राप्त हो धातुओंको साम्यावस्थामें करनेवाले होते हैं।

रसादिप्रसाद धातु और स्वेदमूत्रादि मलधातुओंके मार्ग और स्त्रोत शरीर में दिखाई देते हैं। वे अलग अलग धातुओं के बने हुअे हैं। स्रोत अपने अपने धातुओं का योग्य प्रमाण में पोषण करते है। इस तरह ये शरीर अन्न से बना हुआ है। उसी अन्न से रोग भी पैदा होते हैं। योग्य और हितकर आहार से सुख प्राप्त होता है। तथा अयोग्य अहितकारक आहार करना दुःखकारक होता है।

शरीर धातुओं के दो प्रकार

चरकाचार्यने कहा है कि शारीरिक धातु सामान्यता से दो प्रकार के होते हैं। उन में से जो शरीर में रहकर उसको बाधा करते हैं वे मल कहलाते हैं। जैसेः— शरीर के छिद्रों में भरा हुआ क्लेद, शरीर से पृथक् उत्पन्न होनेवाले अर्थात् शरीर में न मिलकर निरुपयोगी बचे हुअे पदार्थ, और पाक होकर जो शरीरमें से बाहर निकलते हैं, तथा प्रकुपित वात, पित्त, कफ उन सबको मल कहते हैं। इनके अतिरिक्त शरीरमें जो भाव रहते है वे सब प्रसादसंज्ञक होते हैं। त्रिदोषों को भी जबतक वे धारण करते हैं तबतक प्रसाद और जब शरीर को दूषित करने लगते है तब मल कहते हैं।

शरीरमें का अंजली प्रमाण

तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन यत्तुप्रच्च्यवमानं पुरीषमनुबंध्यात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीधातून् । यत्तु सर्वशरीरचरं। बाह्यत्वग्बिभर्ति । यत्तुत्वगंतरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणानुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत्स्वेदशब्दमवाप्नोति तदुदकं दशांजलीप्रमाणम्। च. शा. ७–११

मनुष्यके शरीरमें अपनी अंजलीसे दस अंजली जल होता है। अत्यंत तीक्ष्ण विरेचन देनेसे जो जल विरेचन द्वारा पुरीष से मिलकर निकल जाता है, तथा मूत्र के द्वारा शरीरके बाहर जानेवाला जल, शरीरमें के धातुओंमें रहनेवाला, संपूर्ण शरीरमें अभिसरण (विचरण) करनेवाला जल, जो बाहर की त्वचामें रहता है, जो त्वचामें व्रण हो जानेसे लसिका कहा जाता है,

जो उष्णताके आनसे रोमकूपों द्वारा स्वेदके रूपमें बाहर निकलता है यह सब दश अंजली प्रमाण जल होता है।

नवांजलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यद्रसमित्याचक्षते। अष्टौ शोणितस्य सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः पंच पित्तस्य चत्वारो मूत्रस्य त्रयो वसाया द्वौ मेदस एको मज्ज्ञः। मस्तिष्कस्यार्धांजलिः शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं तावदेवश्लेष्मणश्चोजस इत्येतच्छरीरतत्वमुक्तम्।

च. शा. ७–१२

जो आहार किया जाता है उसका परिणाम धातुरस नौ अंजलियाँ होता है। रक्त आठ अंजलीयाँ, पुरीष सात, कफ छः पित्त पाँच अंजलियाँ, मूत्र चार, वसा तीन अंजलियाँ, मेद दो, मज्जा एक अंजली, मस्तिष्क आधी अंजली, शुक्रभी आधी, श्लेष्मक ओज आधी अंजली इस प्रकार शरीरमें के तत्वों की अंजलिओं का प्रमाण है !

मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्मशकृत्यसृक्।
रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकांजलिवर्धितम्॥

वा. शा. ३–८०

मनुष्य के शरीरमें मज्जा, मेद, वसा, मूत्र, पित्त, कफ मल, रस, रक्त और जल क्रमसे पहलेकी अपेक्षा एक अंजली अधिक है जैसेः– मज्जाकी एक, मेद की दो वसाकी तीन आदि (एक अंजली=सोलह तोले).

पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम्।
द्वावंजली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियः॥

वा. शा. ३–८१

ओज, मस्तिष्क और शुक्रकी मनुष्यकी अपनी आधी अंजली के समान पृथक् पृथक् मात्रा है। माताके दूधकी मात्रा दो अंजलियाँ हैं; स्त्रीके रज की मात्रा चार अंजलियाँ हैं। यह परिमाण समधातुवाले शरीरमें होता है; इसमें वृद्धि और क्षय के परिणाम को समझ लेना चाहिये।

धातु विचार

रस

रस गतिवाचक धातु होनेसे " रस " कहलाता है। चतुर्विध, पंचमहाभूत, छ:रस और बीसगुण तथासमस्त प्रकारके वीर्य आदिसे युक्त ऐसा आहार ठीक तरहसे पचन होनेके बाद और उसपर रसाग्निका कार्य होनेके बाद जो सारयुक्त और सूक्ष्म ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है वह " रस " कहलाता है। उसका स्थान हृदय है और उसमेंसे निकलनेवाली चौबीस धमनियाँ द्वारा व्यानवायुके कारण वह रस समस्त शरीरभर अग्नि की लौ और पानी के तरंगोनुसार फैलता है। वह बचपनमें शरीरकी वृद्धि, बुढापेमें क्षीण हुअे धातुओंका पूरण तथा यूवावस्था में चालू अवस्था स्थिर रखना आदि काम करके शरीर जिंदा रखता है। यह शरीरके सब भाग और धातुओंके आशयोंमें फिरता है। उसकी द्रवतासे संधिओंको स्नेहनद्रव्योंका पूरण करना, शरीरका प्रीणन, जीवन करना तथा उसका बल स्थिर रखना आदि खास प्रकारके कार्य होते हैं जिनसे रसको सौम्य कहते हैं।

गर्भिणीमें रसके तीन भाग होते हैं। एकसे गर्भ का पोषण, दूसरेसे दूधका पूरण तथा तीसरे से खुद माता का पोषण होता है।

इस रससें गर्भमें शरीरकी उत्पत्ति, वृद्धि, गर्भका जीवन संबंध, तुष्टि, पुष्टि और उत्साह निर्माण होता है। यह रस प्रथम माताकी नाडिमेंसे गर्भशरीरमें जाता है। जबतक माताके दूधपर बालक अवलंबित है तबतक उसको माताके आहार रससे दूधके द्वारा पुष्टि मिलती है।

रससे आगे सप्तधातुओंकी पुष्टि होनेके कारण रस धातुमें बिगाड न हो इसलिये चिंता करें।

रक्त

जलतत्त्व प्रधान रस यकृत् और प्लीहामें जानेके बाद उस को रंजक पित्तके कारण लालरंग प्राप्त होता है। इसतरहसे रंग बहुतलाल होनेके बाद उसी रसकोही रक्त संज्ञा प्राप्त होती है। विस्रता, द्रवता, लालरंग, गति और लघुत्व ये क्रमसे पृथिव्यादि पंचमहाभूतोंके अलग अलग पाँचों ही गुण रक्तमें प्रतीत होते हैं। इसलिये रक्त पंचमहाभूतात्मक है यह सिद्ध होता है। रक्त ही शरीरका जीवन और मूल होता है और वह शरीरका धारण करता है इसलिये बहुत दक्षता से रक्त की रक्षा करें। रक्त समशीतोष्ण होता है और उसमें बिगाड पित्तके अनुसार होता है। रक्त प्राणायतनोंमें से एक है। वह रक्त निर्दोष माना जाता है जो इंद्रगोप (बीरबहुटी) कीडेके समान लाल है और जो अधिक घन या अधिक तरल नहीं है। तथा वस्त्रादिओं पर गिरजाय तो धोनेसे उसमें किसी तरहका बदल नहीं हो जाय।

मांस

शरीरमें की पेशी और स्नायु ये मांस के विकार होते हैं। उनमें से पेशी आवरण के कार्य करती है जिससे अवयवोंकी रक्षा

धातु कोष्टक

	रस	रक्त	मांस	मेद
उत्पात्ति	अन्नके संपूर्ण पचन होनेके बाद सारकिट्ट विभजन होता है और शरीरको सात्म्य तथा शरीरमें शोषित होनेके लायक ऐसा सूक्ष्म आहार रस निर्माण होता है। उसपर रसाग्निका कार्य होकर रसधातु पैदा होता है।	पोषक रसपर रक्ताग्निका कार्य यकृत्, प्लीहा इन स्रोतसोंमें हो कर रंजक पित्तसे रसको रंजकत्व प्राप्त होता है।	पोषक रक्तपर मांसाग्निका कार्य मांसवह स्रोतस में होकर मांस धातु उत्पन्न होता है। रक्त में वायु और तेज का उष्मा मिलकर वह घन होता है और मांसाग्नि से पाचित हो कर उस को मांस का स्वरूप आता है।	पोषक मांसपर मेदाग्निका कार्य मेदवह स्रोतसमें होकर मेद धातु पैदा होता है।
उत्पात्तिस्थान	रसवह स्रोतस्।	रक्तवह स्रोतस्—यकृत्प्लीहा।	मांसवह स्रोतस्—स्नायु और त्वचा।	मेदोवह स्रोतस्-वृक्क, वपावहन और कटी।
काल	१ दिन।	५ दिन	१० दिन।	१५ दिन.
वहनमार्ग	रसवाहिनियाँ और सिराएँ।	सिराएँ और रक्तवाहिनियाँ	अस्थायी धातुओं का सर्व देह में सिराओं के द्वारा संचार होता है।	———
स्थान	हृदय, सिराएँ और धमनियाँ। रसविक्षेपणका कार्य व्यान वायुके द्वारा होता है। रस नीचे, उपर और तेढा संपूर्ण शरीरमें फेंक दिया जाता है याने पृथक् पृथक् दिशाओंको उसका अभिसरण संपूर्ण शरीरमें चालू रहता है।	यकृत्, प्लीहा, रक्तवाहिनियाँ। रक्तविक्षेपण और अभिसरण हृदय और सिराओंके द्वारा होता है।	मांसवह स्रोतस और त्वक	वृक्क, उदर और वपावहन.
प्रकार	पोष्य-पोषक।	पोष्य—पोषक।	पोष्य— पोषक	पोष्य—पोषक.
प्रमाण	निश्चयपर्वक कहा नहीं जाता। चरक ९ अंजलियाँ।	निश्चयपूर्वक कहा नहीं जाता। सुश्रुत—"शरीरवैलक्षण्यात्, अस्थायित्वात् दोषधातुमलानां परिमाणं न विद्यते।" चरकः—८ अंजलियाँ।	निश्चय पूर्वक कहा नहीं जाता।	निश्चयपूर्वक कहा नहीं जाता। चरकः—२ अंजलियाँ.
गुणकर्म	स्नेहन, धारण, तर्पण, जीवन, तुष्टि, धातुओंका पोषण। प्रमुख कार्यः—प्रीणन और रक्तपुष्टि।	मधुर, स्निग्ध, लाल, गुरु दुर्गंधियुक्त और उष्ण। दश-प्राणायतनोंमें से एक। बल, वर्ण, सुख और आयुष्य देना। प्रमुख कार्यः—जीवन देना, और मांसपुष्टि।	लेपन और मेदपुष्टि।	स्नेहन, अस्थिपूरण और शरीरको दृढता देना।.
आगे के धातुओं की उत्पात्ति	रक्त।	मांस।	मेद।	अस्थि।
उपधातु	स्तन्य, रज।	कंडरा और सिराएँ।	वसा और त्वचा।	स्नायु, संधिबंध, सिराएँ और पिच्छा।
मल	कफ।	पित्त।	कर्ण, अक्षि, नासिका और जननेंद्रिय का मल।	स्वेद।

तत्सारप्रकृति वर्णन

रस

(१) रस और कफके गुणधर्म समानही होते हैं। त्वक्‌सार मनुष्यके गुण रसगुणोंके साथ मेल खाते हैं।

(२) एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुः सौभाग्ययोरिति।

सु. सू. ३५–१६

याने रक्तसारकी अपेक्षा त्वक्सारमनुष्यका दर्जा तन्दुरुस्तिमें कम होता है। त्वक्सारका अभिप्रेत अर्थ रससार माना जाय तो गलत नहीं होगा।

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगंभीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक्साराणां; सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्याणि चाचष्टे।

च. वि. ८–११३

त्वचासारवाले पुरुषकी त्वचा चिकनी, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, किंचित् गंभीर, सुकुमार, रोम तथा कांतियुक्त होती है। इस सारताके होनेसे मनुष्य सुखी, सौभाग्ययुक्त, ऐश्वर्य तथा भोग और बुद्धियुक्त होता है। एवं विद्वान्, निरोगी, हर्षयुक्त और दीर्घायु होता है।

सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति।

सु. सू. ३५–१६

रक्त

कर्णाक्षिमुखजिव्हास्यौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं च स्निग्धरक्तं श्रीमद्भ्राजिष्णुरक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुदग्रतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबल क्लेशसहिष्णुत्वं चाचष्टे।

च. वि. ८–११४

रक्तमें सारता होनेसे मनुष्योंके कान, नेत्र, मुख, जिव्हा, नाक, ओठ, हाथ, पैर, नख, मस्तक, लिंग ये सब चिकने और लाल रंगके होते हैं तथा शोभा और कांतियुक्त होते हैं। रक्तमें सारता होनेसे मनुष्य सुख, उन्नति और मेधायुक्त था मनस्वी सुकुमार, साधारण बलवाला और क्लेशके न सहनेवाला होता है।

स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिव्हौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन।

सु. सु. ३५–१६

मांस

शंखललाटकृकाटिकाक्षिगंडहनुग्रीवास्कंधोरःकक्षवक्षः पाणिपादसंधिस्थिरशुभमांसोपचितं मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यबलमायुश्च दीर्घमाचष्टे।

च. वि. ८–११५

मांस में सारता होने से मनुष्यों के कनपटी, मस्तक, गर्दनका पिछला भाग, नेत्र, कपोल, ठोडी, गर्दन, कंधे, छाती, वक्षस्थल, काख, हात, पैर और संधि दृढ तथा मांसयुक्त पुष्ट होती हैं। और मांस सार होनेसे मनुष्य क्षमा, धृति, निर्लोभ, धन, विद्या, सुख, नम्रता, आरोग्यता और बल तथा दीर्घायुवाला होता है।

अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसंधिं मांसोपचितं मांसेन।

सु. सू. अ. ३५–१६

मेद

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदंतौष्ठमूत्रपुरीषे विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम्। सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकमारोपचारतामाचष्टे।

च. वि. ८–११६

मेदसार मनुष्यके वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दंत, होठ, मूत्र आर मल ये सब विशेष चिकने होते हैं। और यह पुरुष धन, ऐश्वर्य, सुख, भोग, दातृभाववाला होता है तथा सरलतायुक्त, कष्ट न सहनेवाला होता है।

स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा।

सु. सू. अ. ३५–१६

(रक्तधातुके आगे प्रत्येक धातु उत्पन्न होनेके लिये पांच दिन लगते हैं।)

अस्थि

उत्पत्ति	पोषक मेदमेंके पृथिव्यादि महाभूतों के सम धात्वग्निकी क्रियासे उसमें खरत्व पैदा होता है बनते हैं। तदनंतर उनमें वायुकी सहायतासे ि हैं। यह कार्य अस्थिवाही स्रोतसमें होता है।
उत्पत्ति स्थान	मेद और जघन।
काल	२० दिन।
वहनमार्ग	————
स्थान	सर्व देह, मेद और जघन।
प्रकार	पोष्य और पोषक।
प्रमाण	पृथक्-पृथक् मतप्रणालियाँ हैं।
गुणकर्म	देहधारण और मज्जापुष्टि।

होती है। स्नायुसे शरीरका भार सहन किया जाता है और शरीरकी हलचल उसीसे ही होती है। यह हलचल व्यानवायु के द्वारा होती है। शुद्ध मांसका स्नेह वसा कहलाता है।

मेद, अस्थि, मज्जा आदिका वर्णन धातुकोष्टकमें देखिये.

शुक्र

अस्थिओंके छिद्रोंमें जो मेद भरा हुआ रहता है उसीको ही मज्जा कहते हैं। उस मज्जासे शुक्रधात्वग्निके संयोगसे सब शरीरमें स्थित शुक्रवह स्रोतमें की कालाओं के द्वारा शुक्र धातु पैदा होता है। जैसे किसी मट्टीके बर्तनोंमें के छिद्रोंसे पानी टपकता है वैसे ही मज्जासे शुक्रवाही स्रोतसमें से शुक्रधातु स्रवता है। वृषण और शेफ ये जोभी शुक्रवही स्रोतसके खास मूलस्थान कहे गये हैं तोभी सूक्ष्म स्वरूपमें शुक्र समस्त शरीरमें पैदा हो रहता है और वह वृषणमें से स्रवकर मेढ्के द्वारा बाहर निकलता है।

रसः प्रसादो मधुरः पक्काहारनिमित्तजः।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥

सु. नि. १०-१८

विशेषस्तेष्वपिगात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥

सु. नि. १०-१९

तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥

सु. नि. १०-२०

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः॥

सु. नि. १०-२१

तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते।
सु. नि. १०-२२

स्नेहोनिरंतरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते।

आहारका पचन होनेके बाद उससे पैदा हुआ जो रस उसका मधुर ऐसा सत्वरूप भाग समस्त देहमें से स्तनों में संचित होता है। इसालिये वह स्तन्य कहलाता है। शुक्र समस्त देह-व्यापी होकर भी किसी भाग छिन्नहो जाय तो वहाँ दृश्यमान नहीं होता वैसेही स्तन्यही समस्त देहव्यापी होनेके कारण शुक्रके समानही है। क्यौंकि शुक्र जैसे इष्ट स्त्रीके दर्शन, स्मरणसे और उसका शब्द सुननेसे तथा स्पर्श से हर्ष उत्पन्न होनेके कारण बाहर निकलता है (वह हर्ष उत्पन्न होनेके लिये मनभी सुप्रसन्न होना आवश्यक है) उसी तरह स्तन्यभी आहारजन्य रससेही उत्पन्न होनेके कारण बालकके स्पर्श, दर्शन, स्मरणसे और उसको लेनेसे तथा बालकपरके निरंतर प्रेमसे शुक्रके अनुसार बाहर निकलता है।

शुक्रशोणितजीवसंयोगस्य गर्भसंज्ञत्वम्।
गर्भस्य पंचमहाभूतविकारचेतनाधिष्ठानभूतत्वसाधनम्।

वीर्य, रक्त और जीवका गर्भाशयमें संयोग होनेके बाद वह गर्भ कहलाता है। गर्भ पंचमहाभूतोंके समुदायसे बना हुआ और चेतना धातुका अधिष्ठान होता है।

तयासह तथाभूतयोःयदा पुमानव्यापन्नबीजोमिश्रीभावं गच्छाति तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोंऽगादंगात्संभवति।

ऋतुमति स्त्रीके साथ शुद्धवीर्ययुक्त पुरुष जभी संभोग करता है उस समय उसको होनेवाले हर्षोद्रेक से शरीरमें के समस्त धातुओं में होनेवाला उत्कृष्ट शुक्रधातु उस के शरीर के सब भागोंमें से बाहर निकलता है।

जैसे पुष्पकी कलीमें सुगंध अव्यक्त स्वरूपमें रहती है और पुष्प खिलनेके बाद सुगंध प्रतीत होती है उसी तरह शुक्र धातु बचपनमें अदृश्य स्वरूपमें रहता है और बालक यौवनावस्थामें आनेके बाद प्रकट होता है। सुगंध जैसी पुष्पके समस्त अंगोंमें व्याप्त होकर रहती है वैसेही शुक्र सब अंगोंमें रहता है।

स्त्री शुक्र

आर्तवके दो भाग होते हैं। (१) गर्भाशयमें से हरएक मासको स्रवकर बाहर निकलनेवाला जिसको बहिःपुष्प (पुष्प याने) आर्तव कहते हैं। यह गर्भधारणको उपयुक्त नहीं होता है किंतु गर्भाशयकी शुद्धि होनेके लिये इस आर्तव निर्गमनकी आवश्यकता होती है। (२) दुसरे प्रकारका आर्तव सूक्ष्मरूपमें शरीरमें पैदा होता है और शरीरमेंही रहता है। वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता है। शुक्रशोणित संयोगमें यह आर्तव भाग लेता है याने गर्भोत्पत्तिको कारणीभूत होता है। यह आर्तव अंतःपुष्प कहलाता है। उसकी दुष्टिसे बाह्य आर्तवमेंही बिगाड़ होता है और बाह्य आर्तवके दुष्टिलक्षणसे अंतःपुष्पमें होनेवाली बिगाड़की कल्पना आती है।

किसीकी रायके अनुसार स्त्रीशुक्र गर्भोत्पत्तिको कारणीभूत

होता नहीं। संयोगके समय हर्षोद्रेकसे योनीमें जो स्राव उत्पन्न होता है वह शुक्रधातु कहलाता है और आर्तवही गर्भोत्पात्तिको कारणीभूत होता है। आर्तव और शुक्रधातु ये दोनों पृथक् होते हैं। इस रायको माननेवाले आर्तवको सप्तम और शुक्रको अष्टमधातु मानते हैं। जैसे स्त्रियोंमें आठ आशय होते हैं वैसे धातुही आठ माने गये हैं। इसलिये वायुसे शुक्रदुष्टी हो तो योनिशुष्कता, संयोगके समय कष्ट और योनिमें शूल आदि खास लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त पुरुषमें होनेवाले अन्य सामान्य लक्षण होतेही होंगे। जो आर्तवको शुक्र मानते हैं उनके अनुसार शुक्रदुष्टी हो तो आर्तवदुष्टिके समान लक्षण माने जायें।

ओज

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपिव्यापि देहस्थितिनिबंधनम्॥

वा. सू. ११-३७

रस आदि धातु से ले कर शुक्रतक स्वधातुओंका जो उत्कृष्ट तेज है उस का नाम ओज है। यह ओज हृदय में रहते हुअे भी संपूर्ण शरीर में व्याप्त है और जीवन का आधार है तथा देह स्थिति उसपर ही निर्भर है।

रसादीनां शुक्रान्तानां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजः।

सुश्रुत

भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संह्रियते मधु।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संह्रियते नृणाम्॥

जिस तरह मधु संपूर्ण फलपुष्पों में व्याप्त है और भ्रमर उस को चूस कर लेता है वैसे ही ओज संपूर्ण शरीर में

(धातुओं में) व्याप्त है और समस्त उत्तम गुण (सार) ओज में प्रतीत होते हैं।

स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्।

वा. सु. ११-३८

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥

सु. सू. १५-२५

यह ओज स्निग्ध, सोमस्वरूप, शुद्ध, थोडासा लाल, पीले वर्ण का है। ओज, सौम्य, स्निग्ध, श्वेत, शीतल, शरीरस्थैर्य-कारक, प्रसरणशील, निर्मल, पिच्छिल और प्राणों का श्रेष्ठ आधार है। ओज रसादि धातुओं के गुणसमुदायस्वरूप होने के कारण उसको खास अष्टम धातु मानने का कारण नहीं है।

ओज दो प्रकारके गहे कये है।

प्राणाश्रयस्यौजसोष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः।

(१) अष्टबिंदुक ओजः— यह हृदय में रहता है। उस के एक बूंद का भी नाश होगा तो तुरंत मृत्यु आती है। वह परमोज कहलाता है।

(२) श्लेष्मक ओजः— उस का प्रमाण आधी अंजली है ऐसा कहा गया है। आगे जो ओजक्षय के लक्षण कहे गये है वे इसी ही ओज के है।

किसी जगह कहा गया है कि ओज शुक्र का मल है। शुक्र से यदि हमेशा ओज निर्माण होता है तो भी प्रसंगानुसार जब उस शुक्र धातु का गर्भ में परिवर्तन होता है तब उसके शेष भाग से ओज उत्पन्न होता है। संक्षेप में शुक्रमें हमेशा दो

बढकांश प्रतीत होते हैं । एक गर्भोत्पादक और दूसरा ओजोत्पादक । जब शुक्रसे ये दोनों पदार्थ पैदा होते हैं तब पहले भाग को सार और दूसरे को मल ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है। जब केवल ओज ही उत्पन्न होता हैं तब उसको शुक्र धातु का उत्तम सार माना जाता है।

ओज का कार्य

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्व चेष्टासु अप्रातिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामभ्यंतराणां च करणानामात्मकार्यप्रातिपत्तिर्भवति ।

सु. शा. १५-२४

बल याने ओज से मांस बढ़कर उसको गाढ़ापन आता है। किसी काम करने की मनुष्य को हिंमत आती है। मनुष्य का स्वर और शरीर का वर्ण सुंदर होता है। कर्मेंद्रियें और ज्ञानेंद्रियें अपने अपने काम अच्छी तरह से करने के लिये प्रवृत्त होती हैं।

धातुघटित पृथक पृथक अवयव

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥ सु. शा. ४-२५
असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः ।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥ सु.शा. ४।२६
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः ।
उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ॥ सु.शा. ४।२७
कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ।

मेदसः स्नेहमादाय शिरास्नायुत्वमाप्नुयात् । सु.शा.४।२९
रक्तमेदःप्रसादात् वृक्कौ, मांसासृक्कफमेदप्रसादात् वृषणौ ।
सु. शा. ४।३१

रक्त से ... ... यकृत और प्लीह ।
रक्त के फेन से... ... ... फुफ्फुस (फेंफडा) ।

रक्त के मल से:— उण्डुक
रक्त कफ से वायु और पित्त की सहाय्यता से :— अंत्र, गुदा, बस्ति, हृदय ।
रक्त कफ और मांस से:— जिव्हा ।
रक्त और मेद से:— वृक्क ।
मेद से:— सिरा, स्नायु ।
रक्त, मांस, मेद और कफ से:— वृषण ।

मूत्रोत्पत्ति

ग्रहणीपूर्वभाग में अन्न के पचन होने के बाद आहाररस का ग्रहणीके उत्तरभागमें सारकिट्ट विभजन होता है । किट्ट यानें वायु, मूत्र और पुरीष । पुरीष और मूत्रका (मूत्रपूर्व द्रव्यका) विभजन पुरीषवह स्रोतस् याने पक्काशयमें होता है । उसका मतलब यह है कि पुरीष महास्रोतसमें ही रह जाता है और मूत्रपूर्वद्रव्य (जल और मूत्र मार्गसे जानेवाला शेष मल) आंत्रसे रसमें शोषित होता है । उसमें शरीरमें उत्पन्न हुआ क्लेद (उदकरूप पोषक पदार्थ) मिलता है । तदनंतर अन्ननलिकासे आनेवाला आप्धातु, मूत्रपूर्वद्रव्य, और क्लेद ये सब इकठे होकर वृक्क और मूत्रवह स्रोतसके द्वारा रसरक्तसे अलग किये जाते हैं । वह मूत्र कहलाता हैं । यह पार्श्वस्थ दो

उपधातु

उपधातु	उत्पत्ति	प्रमाण	काल
स्तन्य	मूलद्रव्य-रस	२ अंजलियाँ	गर्भधारणके बाद
रज	मूलद्रव्य-रस	——	स्त्रियोंकी यौवनावस्थासे ५५ वर्ष तक हरएक मासमें एकबार
कंडरा और सिरा	मूलद्रव्य-रक्त और मेद	——	——
वसा	मांसस्नेह	३ अंजली	——
स्नायु	मूलद्रव्य-मेद		
त्वक्	मूलद्रव्य-मांस गर्भाशयमें शुक्रार्तव पचनके समय। सुश्रुतानुसार ७ और चरकानुसार ६ स्तर उत्पन्न होते हैं।		

उपधातु	त्वचाके स्तर और उनके रोग
कार्य	
	उदकधरा—सिध्म, पद्मकंटक
बाल और स्तनपोषण	लोहिता—तिल कालक, न्यच्छ, व्यंग.
	श्वेता—चर्मदल, अजगल्ली और मशक,
—	ताम्रा—किलास (सफेत कोढ़) कुष्ठ.
	वेदिनी—कुष्ठ (कोढ़) विसर्प.
	रोहिणी—ग्रंथी, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगंड.
—	मांसधरा—भगंदर, विद्रधी, अर्श.
शरीरको स्निग्धता और गुरुता	
शरीर का भार ढोना	
हलचल की क्रियाएँ	
स्पर्शनेंद्रियोंका मूल.	

(२० यवभाग=१ यव)

	यवभाग	
उदकधरा	१८	उदकधारण और छायाप्रकाशन
लोहिता	१६	रक्तधारण
श्वेता	१२	
ताम्रा	८	
वेदिनी	५	
रोहिणी	२०	
मांसधरा	४०	

मल

मल	उत्पत्ति	स्थान	प्रमाण	कार्य
पुरीष	अन्नका संपूर्ण पचन होनेके बाद सारकिट्ट विभजन समय पुरीषधराकलाओं के द्वारा।	पुरीषवह स्रोतस् पक्वाशय और गुद।	चरक :—७ अंजलियाँ- सुश्रुत :— निश्चित नहीं	अवष्टंभ, वायु और अग्निका धारण। अवष्टंभं पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनं। स्वेदस्य केशक्लेद विधृतिः। बा. सू. ११ – ४ पुरीषमुपस्तंभं वाय्वग्निधारणंच बस्तिपूरणविक्लेद-कृन्मूत्रं स्वेदःक्लेदत्वक् सौकुमार्यकृत्। सु. सू. १५।८
मूत्र	सारकिट्ट विभजनके बाद पुरीष विरेचन और द्रवमल शोषण होता है। उसका क्लेदके सहित मूत्रवह स्रोतस के द्वारा स्रवण होता है।	बस्ति और वृक्क	चरकः— ४अंजलियाँ	बस्तिपूरण और क्लेदका वहन
स्वेद	धातुपाकके समय मेदसे मल-स्वरूपमें उत्पन्न होता है।	मेद और रोमकूप	निश्चित नहीं	बाल और त्वचाको सुकुमार बनाना और त्वचाको क्लेदयुक्त रखना।

मल

मल	क्षयलक्षण और चिकित्सा	वृद्धिलक्षण और चिकित्सा
पुरीष	हृदय और पार्श्वमें दर्द; यह वायुके संचारसे होता है। वायु महास्रोतसमें गुड़गुड़ आवाज करके फिरती है। चिकित्सा:—मलको बढ़ानेवाले पदार्थ खाइये उदा:—जौ, उड़द और चवली इनको देवे	पेट और सिरमें दर्द, वायु गुदद्वारसे निकलता नहीं, मलाप्रवृत्ति (कब्जीकी शिकायत), शरीर भारी होता है, पार्श्वमें शूल। चिकित्सा:— स्वेदन, अनुलोमन और बस्ति; अनुलोमक दवाइयोंका उपयोग उदा :——हिंग, सैंधव, एरंडीका तेल, घी और पानी आदि।
मूत्र	बस्तिमें चुभनेके अनुसार पीडा मूत्र कमती और कभी कभी रक्तमिश्रित होना, मूत्रका वर्ण बदलना। चिकित्सा:——मूत्र बढानेवाले पदार्थ खानेको दीजिये। उदा:——गन्ना और ककडी.	आनाह, बस्तिशूल, कमती लेकिन बारबार मूत्र प्रवृत्ति, कभी कभी बहुत मूत्रप्रवृत्ति। चिकित्सा:——बस्ति, नस्य, स्वेदन और अभ्यंग।
स्वेद	पसीना नहीं आना, स्पर्श नहीं समझना, त्वचा रुक्ष होना, रोमकूप बंद होना. चिकित्सा:—स्नेहन, स्वेदन, और व्यायाम.	पसीना बहुत आना, शरीरको बदबु और खुजली आना। चिकित्सा:—शरीरको भस्म लगाना।

गविनिओंके द्वारा मूत्राशयमें जाता है और तदनंतर मेढ्र के द्वारा शरीरके बाहर फेंक दिया जाता है।

मूत्रपूर्वद्रव्य सारकिट्ट विभजनके समय निर्माण होनेके कारण उसको समान वायुकी साम्यावस्थाकी अत्यंत आवश्यकता होती है।

स्रोतोंका विचार

स्रोतस् शब्द स्रु—गतौ इस धातुसे बना है। स्रवण और प्रस्रवणका मुख्य अर्थ स्राव होना ऐसा होता है। पानीका स्रवना और पानीका वहना उनमें तत्वतः बहुत अंतर है। मिट्टीके बर्तनोंमें से पानी स्रवता है और नलिकामेंसे पानी वहता है। स्रवना एक प्रकार वहन है यह बात सत्य है तोभी जब किसी द्रवपदार्थके वहनके बीच में स्थित पदार्थके कारण रुकावट निर्माण होती है और उस बीचमें स्थित पदार्थके सूक्ष्म छिद्रोंमेंसे जब उस द्रव पदार्थका निर्गमन होता है तभी स्रवण शब्द अन्वर्थक होता है। उसके अतिरिक्त उस क्रियामें बीचमें स्थित पदार्थके गुणधर्मानुसार बाहर निकले हुअे वस्तुके स्वरुपमें परिवर्तन होता है। उदाः— मिट्टीका घट रंगिन और क्षार युक्त हो तो उसमें से टपकनेवाला पानी रंगिन और क्षार युक्त होता है। शरीरमें धातु और मल आदिकी उत्पत्ति ऐसी ही होने के कारण आयुर्वेदीय ग्रंथकारोंने स्रवण रूपमें स्रोतसों की उपपत्ति मानी और आहार रससे बने हुअे जो शारीरिक पदार्थ प्रतीत होते हैं वे सब इस प्रकारके स्रवनकाही परिणाम है ऐसा निश्चित किया। इतना ही नहीं तो हवा और पानी आदि पदार्थोंका शोषण, लाला और पित्त आदिके पुनरपि उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंका वियोजन, मूत्र

स्रोतस्

नाम	मूल	घटक	कार्यकारी दोष	कार्य
प्राणवह स्रोतस्	हृदय, रसवाहिनियाँ महास्रोतस्	मांस, रक्त और कफ	प्राणवायु और अवलंबक कफ	श्वासोच्छ्वास, अन्नप्रवेश शरीर और जठराग्निके प्रीणन और जीवन
उदकवह या अंबुवह स्रोतस्	तालु और क्लोम (विशेषसे) समस्त शरीर	मांस	वायु	रसरक्तादि धातुओंके अभिसरणका माध्यम ऐसा जो जल उसकी उत्पत्ति और वहन
अन्नवह स्रोतस्	आमाशय और अन्नवाही धमनियाँ	रक्त, मांस, कफ	पाचक पित्त, क्लेदक कफ और समान वायु	अन्नग्रहण क्लेदन, पचन, विवेचन और मोचन

रसवह स्रोतस्	हृदय और दस रसवाहिनियाँ	रक्त, मांस, कफ	अवलंबक कफ, प्राण, उदान और व्यान वायु और साधकपित्त	प्रीणन, रसधातुकी उत्पत्ति और वहन
रक्तवह स्रोतस्	यकृतप्लीहा और रक्तवाहिनियाँ	रक्त, मांस, कफ	रंजकपित्त	शरीरका जीवन ऐसा जो रक्त उसकी उत्पत्ति और वहन
मांसवह स्रोतस्	स्नायु, त्वचा, रक्तवाही धमनियाँ	मांस, कफ	व्यानवायु, भ्राजक पित्त, श्लेष्मक कफ	मांसधातुकी उत्पत्ति और वहन
मेदोवह स्रोतस्	वृक्क, वपावहन, कटी	रक्त, मेद	कफ	मेद धातुकी उत्पत्ति और वहन
अस्थिवह स्रोतस्	मेद और जघन	मेद और रक्त	वायु	अस्थिधातुका उत्पादन और वहन
मज्जावह स्रोतस्	अस्थि आर संधि	मेद	कफ	मज्जाधातुकी उत्पत्ति और वहन

शुक्रवह स्रोतस्	वृषण मेढ्र (शेफ)	मांस और रक्त	अपान वायु	गर्भोत्पादिका साधन जो शुक्रधातु उसकी उत्पत्ति
आर्तववह स्रोतस्	गर्भाशय और आर्तववाहिनियाँ	रक्त और मांस	अपान वायु	आर्तवका विमोचन
पुरीषवह स्रोतस्	पक्वाशय और गुदा	रक्त, मांस, कफ	अपान वायु	पुरीषका विसर्जन
मूत्रवह स्रोतस्	बस्ति, वृक्क, मेढ्र	रक्त, मेद, कफ	अपान वायु	मूत्रका विसर्जन
स्वेदवह स्रोतस्	मेद, रोमकूप	मेद, रक्त, मांस	व्यान वायु	स्वेदका विसर्जन
मनोवह स्रोतस्	हृदय और समस्त शरीर	सर्व धातु	प्राण और उदान वायु, साधकपित्त तर्पक कफ	प्रयत्न, बुद्धि, अहंकार, विचार, इंद्रियोंके विषयग्रहण, नियंत्रण, शारीरिक हलचलपर नियंत्रण

और स्वेद आदि मलपदार्थोंका पृथःकरण, तथा धात्वादिओंके सूक्ष्म घटकोंकी पुनरुत्पत्ति या वर्धन ये क्रियाएँ जिन जिन शरीर घटकों के द्वारा होती है वे सब घटक और तदनुबंधी अन्य संलग्न भाग उनके समुदायको आयुर्वेदीय विद्वानोंने स्रोतस् ऐसी संज्ञा दी है।

स्रोतसों का स्वरूप

रसरक्तके समानधातु और लाला और मूत्रके समान जो शरीरमें के पदार्थ जिन स्रोतसोंसे स्रवते हैं उन पदार्थोंके रंग के अनुसारही उन्हीं स्रोतसोंका रंग रहता है। स्रोतस पृथक् पृथक् आकार के कोई स्थूल तो कई सूक्ष्म ही होते हैं। स्रोतसोंमें आपातातः सब जगहमें जाल दिखाई देता है। क्योंकि शरीरमें की वाहिनियाँ (शुद्धाशुद्धरक्त) जो रोहिणी और नीला उनका आरंभ और अंत इतना सूक्ष्म होता है कि रोहिणी या नीलाके रंगमें कुछ पृथकत्व नहीं दिखाई देता है तो वे केवल जाल ही है ऐसा प्रतीत होता है।

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसिदीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥
च वि. ५।२९.

स्रोतसों में शुद्धरक्तका पूरण करनेवाली एवं लाल रंगसे स्पष्ट प्रतीत होनेवाली जो रोहिणी और नीले रंगसे प्रतीत होनेवाली सिराएँ तथा स्रोतसोंके कार्योंको प्रवृत्त करनेवाली धमनियाँ वे जबतक अपनें स्वरूपमें दृश्यमान हैं तबतक उन्हें स्रोतस न माना जाय ऐसा सुश्रुतका कहना हैं।

मूलात् खादंतरं देहे प्रसृतमभिवाहियत् ।
स्रोतस्तादिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥

सु. शा. ९।१३

स्रोतसों में जो पदार्थ उत्पन्न होता है और जो पदार्थ स्रोतस लाता है या लेता है वह पदार्थ और स्रोतस ये दोनों बिलकुल पृथक् वस्तुएँ होती हैं ।

स्रोतसों के प्रकार

उत्पद्यमान शारीरिक पदार्थोंका अभिनिर्वर्तन याने उत्पत्ति स्रोतसों के द्वारा होती है । शरीरमें पैदा होनेवाले भाव पृथक् पृथक् प्रकार के होते हैं इसलिये उनकी संख्याभी अनगिनत होती है यह कहकर चरकाचार्यने उदाहरण के लिये स्रोतसों का उल्लेख किया और कहा कि ऐसे अनेक स्रोतसोंके बारेमें उनकी उपपत्ति निश्चित करके बुद्धिमान व्यक्तियोंको उनका चिकित्सामें उपयोग कर लेना आवश्यक है ।

यावन्तः पुरुषे मूर्तिमंतो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः । सर्वे भावा हि पुरुषे नांतरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वा न गच्छन्ति ॥

च. वि. ५।२

अतिबहुत्वात्तु खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि परिसंख्येयानि पुनरन्ये ।

च. वि. ५।३

कई लोग जिसमें रक्त के समान द्रवपदार्थोंका साक्षात् वहन होता है ऐसी शरीरमें की अवकाश युक्त नलिकाएँ ऐसा स्रोतसों का अर्थ करते हैं । अर्थात् उनकी रायसे मांस,

अस्थि आदि के समान पदार्थ द्रवरुप न होने के कारण अस्थिवाही, मांसवाही आदि स्रोतसों का उल्लेख निरर्थक होता है।

उसके अतिरिक्त सुश्रुताचार्यनें बहिर्मुख और अंतःस्रोतस ऐसे दो प्रकार कहे हैं। बहिर्मुख पुरुषोंमें नौ और स्त्रियोंमें बारह होते हैं।

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नवस्रोतांसिबहिर्मुखानि। एतान्येव स्त्रीणां। अपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्तात् रक्तवहं च।

अंतःस्रोतस याने पूर्वोक्त कोष्टकमें दिये हुअे पंधरह स्रोतस।

उन स्रोतसों के अंतर्भागमें परमाणु के समान धातुसार घटित सूक्ष्म और अव्यक्त ऐसे कलासंज्ञक अवयव दिखाई देते हैं।

स्रोतसों का कार्य

शरीरमें पृथक् पृथक् ऐसे जितने पदार्थ प्रतीत होते हैं उन सबके स्रोतस शरीरमें दिखाई देते हैं। आहाररस से उत्तरोत्तर परिणाम होनेवाले पृथक् पृथक् प्रकार के जो धात्वादि पदार्थ पैदा होते हैं उनके स्रोतस अभिवाहक अर्थात् उत्पादक होते हैं। परिणत स्वरूपमें प्राप्त हुअे पदार्थोंका सूक्ष्म स्वरूप प्रथम उन स्रोतसों में प्रतीत होने के कारण स्रोतस उन पदार्थोंके अभिवाहक अयन मार्ग होते हैं।

कलाप्रकरण

कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति धात्वाशयांतर मर्यादाः। सु. शा. अ. ४।५

कलाएँ धात्वाश्रयोंमें के अंतर्भागमें की मर्यादा होती हैं। स्रोतसोंमें जो जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सब उन कलाओं से ही पैदा होते हैं। वे कलाएँ स्रोतसों के अंतर्भागमें चिपकी हुई प्रतीत होती हैं। उनके सूक्ष्मत्व के कारण से ही उनको कला संज्ञा प्राप्त हुई है।

यस्तु धात्वाशयांतरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमुष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषाल्पत्वात् कलासंज्ञः। अष्टांग संग्रह

धात्वाशयोंके याने स्रोतसोंके अंतर्भागमें काष्ठांतरभूत सार भाग के अनुसार क्लेद रहता है। वह स्नायु श्लेष्मा और जरायु से ढ़का हुआ है। उसी क्लेदकोही धातुसारके अल्पत्व के कारण कला संज्ञा दी गयी है। क्लेद का उसीके ही उष्मा से पचन होकर कलाएँ पैदा होती हैं।

कलाओंके प्रकार और कार्य

(१) मांसधराकलाओंसेः—सिरा, स्नायु, धमनी आदि अवयव बन गये हैं।

(२) रक्तधराकलाओंसेः—रक्त, सिरा, यकृत और प्लीहा ये अवयव व्याप्त हैं।

(३) मेदोधराकलाओंसेः—मेद, मज्जा और वसा आदिकी उत्पत्ति होती है।

(४) श्लेष्मधराकलाओंसेः—संधिगतश्लेष्मा पैदा होता है।

(५) पुरीषधराकलाओंसेः—पुरीषका विभजन होता है।

(६) पित्तधराकलाओंसेः—पित्तका स्रवण होता है।

(७) शुक्रधराकलाओंसे:—शुक्रकी निर्मिति होती है। ये वृषण और समस्त शरीरमें स्थित हैं।

आशय

सप्त चाधारा रक्तस्याद्यः क्रमात्परे ॥

वा. शा. ३-१०

कफामपित्तपक्कानां वायोर्मूत्रस्य च स्मृताः ।
गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्काशयांतरे ।

वा. शा. ३-११

रक्ताशय, कफाशय, आमाशय, पित्ताशय, पक्काशय, वाय्वाशय और मूत्राशय ये सात तथा स्त्रियोंमें पक्काशय और पित्ताशयके मध्यमें गर्भाशय ये सब मिलकर आठ आशय होते हैं।

श्वसनम् । प्राणवहस्रोतांसि ।

प्राणवायुके स्वरूप दो प्रकारके होते हैं।

स्थूल स्वरूप:—उसका संचार नाक, गला, कंठ, फुप्फुस और अंतमें हृदयतक होता है। प्राण मस्तकमें रहकर कंठ और छातीमें संचार करता है। (प्राणवायुके स्थान और कार्य देखिये) छातीमें प्राणवह स्रोतस है। प्राणवह स्रोतसका मूल हृदय, धमनी और महास्रोतस् ऐसाही कहा है। इधर हृदयका अर्थ हृदय और उसके दोनों ओर स्थित फुप्फुस ऐसा मानना चाहिये। प्राणवायु इस प्राणवह स्रोतसके अंदर फिरता है। उसके संचारको कारणीभूत होनेवाली जो क्रिया वह श्वसन कहलाती है। उसके संचारको अवरोध होनेके कारण मृत्यु आती है।

सूक्ष्म स्वरूपः—यह व्यक्तकर्मा होता है याने कार्योंके द्वारा उसका बोध होता है।

सिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वं व्याप्य स्थितास्तनुम्।
पुष्यन्तिचानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः।
नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलांतरम्।
कंठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्।
पीत्वा चांबरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन्देहमखिलं जीवनं जठरानलम्॥

शा. प्र. खं. ८५-८७

नाभिस्थ सिराएँ और धमनियाँ समस्त शरीरमें व्याप कर रहती हैं। (याने पृष्ठवंशरज्जुसे निकलनेवाली धमनियाँ) वे सब धातुओंके साथ वायुका संयोग करके धातु पुष्ट करती हैं। नाभिस्थ प्राण वायु कोष्ठमेंसे कंठके द्वारा बाहर जाता है। याने मस्तकमें स्थित मस्तिष्कतलको (हृत्कमल) जाता है और उधर जो बडा अवकाश (महदाकाश और ब्रह्मरंध्र) दिखाई देता है उससे चंद्रामृत (अंबर पीयूष) पीकर फिर नाभिके स्थानमें आकर श्वासोश्वासादि प्राणवायुकी सब क्रियाएँ कराती है। (प्राणवायुके कार्य देखिये) इस प्रकरणके लियेही कहना है तो कहना होगा कि यह वायु श्वसनका नियमन करती है।

उपरोक्त संपूर्ण विषय विवाद्य है। किंतु पाश्चात्य विचारों के साथ उपरोक्त विचार मेल खाते हैं अतएव इसतरह निवेदन किया है। वह सब को मान्य होगा यह बात नहीं।

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते ।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥

सु. शा २-५४

निश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नान्गर्भोऽधिगच्छति ।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान् ॥

सु. शा. २-५५

जरायु के द्वारा मुख ढ़का हुआ होने के कारण और कफसे कंठ लिप्त होने के कारण तथा वायु के मार्ग में रुकावट होने के कारण गर्भस्थ शिशु रोता नहीं। रोने की क्रिया उच्छ्वास से ही होती है अतएव श्वसन नहीं होता है। माता के निश्वास, उच्छ्वास, हलचल और निद्रा आदि से ही गर्भ की निश्वास, उच्छ्वास, हलचल और निद्रा ये क्रियाएँ होती हैं।

हृदय

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः !
शंखौमर्मत्रयं कंठो रक्तशुक्रौजसी गुदम् ॥

च. सू. २९-२

जिन में प्राण आश्रयभूत रहते हैं वे दशही स्थान हैं। अथवा यो कहिये कि शरीर में प्राणों के रहने के दश स्थान हैं। जैसे दोनों कनपटी, मस्तक, हृदय, बस्ति, कंठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा।

द्वारमामाशयस्यच ।
सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम् ॥

वा. शा. ४-१३

हृदय नाम का मर्म सत्त्व, रज, तमोगुण आदिओं का

स्थान होता है। वह दोनों स्तनों के मध्य में और उर और कोष्ठ के बीच में रहता है।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणम्।

हृदय में सत्त्व, रज, तमगुण रहते हैं। वह चार अंगुली विस्तार का मर्म है ऐसा सुश्रुत में कहा है और वह छिद्र होने से तुरंत मृत्यु आती है। इस लिये वह सद्य प्राणहारी मर्म कहलाता है। "द्वे हृदयामाशमायोः" आमाशय और हृदय दोनों एक एक पृथक् पेशी से वेष्टित है ऐसा सुश्रुत में उल्लेख दिखाई देता है। हृदय के दोनों ओर एक एक फुप्फुस स्थित है। "शोणितकफप्रसादजंहृदयम्" सु. रक्त और कफ के सारभूत भागों से हृदय बना हुआ है।

पुंडरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।

सु. शा. ४-३२

अधोमुख कमल के समान हृदय आकार में होता है।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।

सु. शा. ४-३४

हृदय यह विशेष कर के चेतना का स्थान है ऐसा मानते हैं। शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा इनका संयोग, जो शरीर को धारण करता है और जिस को स्पर्शसे सब पदार्थों का ज्ञान होता है वह जीवात्मा या चेतना कहलाता है। ऐसा जीवात्मा हृदय में स्थित है। षडंग शरीर, बुद्धि, पाँच ज्ञानेंद्रियें और शब्द स्पर्शादि विषय, सुखदुःखादि गुणयुक्त आत्मा, मन और उसके विचार ये सब हृदय में रहते हैं।

हृदय ओज और रसधातु के स्थान है। हृदय से निकलने

वाली नाडिओं के द्वारा रस और रक्त का संपूर्ण शरीर में अभिसरण होता है। रस सिराओं के द्वारा पुनः हृदयमें आता है ऐसी किसी की राय है। (अन्य वर्णन मनोवह स्रोतस, प्राण, व्यानवायु के कार्य तथा अवलंबक कफ का कार्य इन प्रकरणों में देखिये) रसधातु शब्द और जल के तरंगोनुसार तथा अग्नि की लौके अनुसार चारों ओर हृदय से फेंका जाता है।

वायु

उत्पत्तिः—विशेषस्थान–ग्रहणी के उत्तर भागमें। मूल द्रव्य–अन्न से।

अग्निः — जाठराग्नि; वायुका उदीरण पचन के तीसरे अवस्थामें होता है। उसके अतिरिक्त समस्त शरीमें वायु की उत्पत्ति होती रहती है।

प्रमाणः—शरीराणां वैलक्षण्यात् अस्थायित्वात् दोषधातुमलानां परिमाणं न विद्यते। निश्चित नहीं है।

वहनमार्गः—सिराएँ और धमनियाँ।

पांचभौतिकत्वः—वायु और आकाश (ख–वा).

वायु के गुण

रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति।

च. सू. १२–२

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः।

च. वि. ८–१०९

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।

वा. सू. १–११

रूक्ष, लघु, शीतल, शोषण के कारण कठिनता, खर,

विशद, परुष, चल, शीघ्र ये वायुके गुण हैं। वह शब्द स्पर्श गुण युक्त होता है। बायु का मुख्य गुण रूक्षता है।

वातप्रकृति के लक्षण

रूक्षगुण से:—रूक्ष, अल्प, कृश तथा स्वर क्षीण, भिन्न, मंद, अस्पष्ट, जर्जरसा होता है। निद्रा कम आती है।

लघुगुण से:—गति, चेष्टा, आहार, विहार और व्यवहार लघु तथा चपल होते हैं।

चलगुण से:—संधि, अस्थि, भौंहे, ठोडी, होट, जिव्हा, शिर, कंधे, हाथ, पैर, ये अस्थिर होते हैं तथा कभी फडकते हैं।

बहुगुण से:—बहुत बोलनेवाला, तथा कंडरा और नसों के जाल से संपूर्ण शरीर व्याप्त होता है।

शीघ्रगुण से:—आरंभ, क्षोभ, विकार ये चित्त में शीघ्र उत्पन्न होते हैं तथा त्रास, रोग, वैराग्य ये भी शीघ्र उत्पन्न होते हैं। तथा शीघ्र ग्रहण करना और भूलजाना ये गुण होते हैं।

शीतगुण से:—शीत को सहन न करनेवाला, शीत, कंप और जडत्व युक्त होता हैं।

परुषगुण से:—केश, श्मश्रु, रोम, नख, दात, मुख, हाथ पैर आदि अग ये सब कठोर होते हैं।

विशदगुण से:—अंगावयव फटे हुअे होते हैं। एवं संधियाँ नित्य मटका करते हैं॥

ये सब गुण होने से वातप्रधान मनुष्य अल्पायु, अल्प संतान वाले तथा निर्धन होते हैं। वातप्रकृति हीनप्रकृती मानी गयी है।

वातस्थानानि

तत्र समासेन वातः श्रोणीगुदसंश्रयः ।

सु. सू. २१-६

वायु के स्थान संक्षेपतः कटी और गुदा है ।

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेंद्रियम् ।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥

वा. सू. १२-१

पक्वाशय, कटी, सक्थि, श्रोत्र, अस्थि, त्वचा, वायु के स्थान हैं । इन में भी पक्वाशय मुख्य स्थान है ।

ते व्यापिनोऽपिहृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।

वा सू. १-७

त्रिदोष यद्यपि सारे शरीरमें व्याप्त हैं तथापि मुख्यतः नाभी के निचले भाग में वायु का, हृदय और नाभी के मध्यभाग में पित्त का एवं हृदय के उपर भाग में कफ का स्थान है ।

वातपित्तकफा नृणां बस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः ।
तस्मात्तुस्थानसामीप्यात् हर्तव्या वमनादिभिः ।च.

वात, पित्त और कफ ये क्रम से बास्ति हृदय और मूर्धा में आश्रय कर के रहते हैं इसलिये उनका समीप के मार्ग से वमनादिकों से निर्हरण करें ।

त्रिदोषों का सामान्य कार्य

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

सु. सू. २१-८

बाह्य जगत में जैसे चंद्रमा अपनी अमृततुल्य किरणों के द्वारा बाह्य जगत् को स्निग्ध और शीतल रखता है वैसे कफ

भी शरीर को अपने प्रभाव से स्निग्ध और शीतल रखकर पूरण और पोषण कार्य करता है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जलांश ग्रहण करता है वैसे पित्त शरीर में अन्न पचाता है और अन्न रस का ग्रहण करता है। जैसे वायु शीत, उष्ण मेघादिका प्रेरण आवश्यकतानुसार कर के जगत की रक्षा करती है तद्वत वायु शरीर में मलमूत्र का विक्षेप तथा पित्तादिक रसों का स्रवण कर के रक्षाभी करती है।

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य, तं चल ।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः ॥

वा. सू. ११-१

सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च ।
अनुग्रह्णात्यविकृतः ॥

वा. सू. ११-२

विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातंत्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥

अ. हृ.

वायु अविकृत स्थिति में उत्साह, श्वासनिर्गम, श्वासप्रवेश चेष्टा, मलमूत्रादि वेगों की प्रवृत्ति, धातुओं की समान गति, इंद्रियोंका विषयग्रहण आदिओं से उपकार करती है।

सामर्थ्य, अशुकारित्व, बल दूसरे को दूषित करना, स्वंतत्रता तथा बहुत रोग निर्माण करने की शक्ति ऐसा वायु का स्वरूप है।

वायुरायुर्बलं वायुः वायुर्धाता शरीरिणाम् ।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः । च.

वायुपर, आयुष्य, बल, शरीर का धारण और पोषण निर्भर

है । समस्त विश्व वायु से व्याप्त है । वायु सब विश्व का चालक है । जैसी संपूर्ण विश्व की शक्ति ब्रह्म परमात्मा है वैसीही वायु शरीर में की चालक शक्ति है । उसका कार्यकारी स्वरूप प्राण है ।

स्वयंभुरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥
स्वातंत्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैवच ।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम् ।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः स्वरः ॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहर ट् ।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्काधानगुदालयः ।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥
दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च
क्रियाणामनुलोम्यंच करोत्यकुपितोऽनलः ॥

सु. नि. १–५ ते १०

वायु सर्व जगत का चालक भगवान स्वयंभू (नित्य) परमात्मा है । यह स्वतंत्र है याने कार्य करने के लिये इस को दूसरे की सहायता लगती नहीं । यह नित्य और चारों ओर फैलनेवाला है । सब स्थावर और जंगम प्राणिओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश को कारणभूत वायुही होती है । यह अव्यक्त होकर भी उस के कार्यही केवल प्रकट होते हैं । यह रुक्ष, शीत, लघु, खर, तिर्यक्गति और शब्द, स्पर्श आदि गुणों से युक्त, रजो गुण प्रधान, अचिन्त्य, बल, कफ, पित्त

तथा मलमूत्रादि धातुओं को प्रेरक, समस्त रोग समूहों का सम्राट्, आशुकारी और पुनः पुनः संचारशील है।

यह अविकृत अवस्थामें कफ पित्तादि दोष, रसादि धातु और जाठराग्नि आदिओं को साम्यावस्थामें रखती है तथा इंद्रियों के द्वारा अपने शब्द स्पर्शादि विषयों का ग्रहण कराती है और मलमूत्र विसर्गादि क्रियाओं को योग्य तरह से प्रवृत्त करती है।

वायु

(१) प्राण का प्रत्यय देनेवाली।
(२) श्वासोच्छ्वास को कारणीभूत।
(३) समस्त शरीरचेष्टा प्रवर्तक।
(४) शरीर संघातकर।
(५) पंचेंद्रिय और मन की क्रियाएँ अच्छीतरहसे करानेवाली।
(६) वाणी, हर्ष, उत्साह, क्षोभ और स्पर्श आदिओंको कारणीभूत।
(७) शरीर क्लेदका शोषण करनेवाली।
(८) मलों का विसर्जन करानेवाली।
(९) गर्भाकृति और स्रोतस पैदा करनेवाली।
(१०) पोष्यक द्रव्योंको पोष्य धातुतक पहुचानेवाली और अभिसरण कार्य करनेवाली।
(११) दोषधातु और अग्निसाम्य रखनेवाली।
(१२) परिमाणुओं के संयोग और विभाग को कारणीभूत।
(१३) रसोंसे मल पृथक् करानेवाली है।

वायुसे शरीरमें होनेवाली क्रियाएँ ।

श्वासोच्छवास, निमेषोन्मेष, आकुंचन, प्रसरण, गमन, प्रेरण और धारण ।

वायु के प्रकार

प्राणादिभेदात्पंचात्मावायुः । वा. सू. १२–४

प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान, ऐसे वायुके प्रकार हैं।

प्राणवायु

स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः कर्णजिव्हास्यनासिकाः ।

मस्तक, छाती, कान, जिव्हा, नाक ये प्राणवायुके स्थान हैं।

उरः कंठचरो बुद्धिहृदयेंद्रियचित्तधृक् ॥

वा. सू. १२–४

ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिश्वासान्नप्रवेशकृत् ।

प्राणवायु सिरमें स्थित है। छाती और कंठमें गति करती है। बुद्धि, इंद्रिय हृदय और मन इनको धारण करती है। थूकना, छींक लेना, उद्गार, निश्वास, अन्नका प्रवेश करती है।

उदानवायु

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ॥

वाक्प्रवृत्तिप्रयन्तोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ।

वा. सू. १२–६

उदान वायुका स्थान छाती है। वह नासा नाभि और गलेमें गति करती है। वाणीकी प्रवृत्ति, ऐच्छिक क्रिया, उत्साह, बल, वर्ण, स्मृति को करती है।

व्यानवायु

व्यानो हृदिस्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ॥
वा. सू. १२–६

गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ।
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन्प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥
वा. सू. १२–७

व्यानवायु मुख्यतः हृदयमें रहती है। संपूर्ण शरीरमें गति करती है। प्राणादिकी अपेक्षा शीघ्रगतिवाली है। गति निर्माण करना, अंगको नीचे ले जाना, अंगको उपर ले जाना, आंखको बंद करना, आंखको खोलना आदि क्रियाएँ करती है। मनुष्योंके सब चेष्टाएँ मुख्यतः इसके आधीन हैं।

समानवायु

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुंचति।
वा. सू. १२–८

समान वायु मुख्यतः पाचकाग्निके समीप रहती है। संपूर्ण कोष्ठमें फिरती है। अन्नको ग्रहण करती है, पचाती है, सार और किट्टमें भेद करती है और किट्टभागको मलमूत्रके रुपमें नीचे प्रवृत्त करती है।

अपानवायु

अपानो पानगः श्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥
वा. सू १२–९

अपान वायु मुख्यतः गुदामें रहती है। यह श्रोणि, बस्ति,

मेहन और उरुमें विचरती है और शुक्र, आर्तव, मल-मूत्र और गर्भको बाहर निकालती है।

वायुप्रशस्ति

संस्कृतमें के वा इस गतिवाचक धातुको त (क्त) यह प्रत्यय लगने से उन क्रियाओंको करनेवाला वायु शब्द निर्माण होता है।

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि। च. चि. ५।६

वातादि दोषों के स्रोतसों से संपूर्ण शरीर व्याप्त है। उनकी उत्पत्ति समस्त शरीर में होनेके कारण वायुकी ही उत्पत्ति सब शरीर में होती रहती है ऐसा मानना आवश्यक है। किंतु उसका प्रमुख स्थान वाताशय और पक्वाशय ये हैं। वाताशय याने ग्रहणीका उत्तर भाग।

वायु योगवाही है। पित्तके संयोगसे वह उष्ण और कफ के संयोगसे शीत होती है।

योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसायुक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्॥ वा.

पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ च

बादलो की हलचल जैसे वायु की आधीन है वैसेही कफ-पित्तों की उत्पत्ति होना या न होना तथा उनको शरीर में चारों ओर फैलाना ये सब वायुके आधीन हैं।

केवल वायुसे शरीरमें ८० रोग उत्पन्न होते हैं ऐसा आयुर्वेद शास्त्र में उल्लेख दिखाई देता है इससे वायु द्रव्यको शरीर में कितना महत्त्व है यह स्पष्ट होता है। उनकी अपेक्षा पित्त

और कफ के रोग क्रमसे ४० और २० कह गये है। (अन्य प्रशस्ति के लिये वायु के कार्य देखिये)

पित्त

उत्पत्तिस्थानः—समस्त शरीर, रक्त। धात्वग्नि-रक्ताग्नि। रस के पचन होने के समय (रक्त निर्मिति के समय) मल स्वरूप में पित्त उत्पन्न होता है। विशेष स्थान रक्तवह स्रोतस्।

प्रमाणः—शरीराणां वैलक्षण्यात् अस्थायित्वात् दोष-धातु मलानां परिमाणं न विद्यते। सुश्रुत

निश्चित नहीं है। चरकः—५ अंजलियाँ।

वहनमार्गः—सिरा, विशेष करके नीला।

पांचभौतिकत्वः—तेज, (ते).

पित्त के गुण

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।

वा. सू. १।११

ईषत् स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दुर्गंधि और सर ये पित्त के गुण हैं।

औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहोवर्णश्च शुक्लारुण वर्जो गंधश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि।

च. सू. २०।१६

उष्णता, तीक्ष्णता, लघुता, किंचित् स्निग्धता, शुक्ल और अरुणवर्णसे भिन्न भिन्न वर्णवाला दुर्गंधयुक्त पूति कटु खट्टा ये सब पित्त के आत्मधर्म हैं।

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेवच॥

सु. सू. २१-११

पित्त तीक्ष्ण, पतला, दुर्गंधयुक्त, नीला, पीला, उष्ण और कटुरस युक्त है। विदग्ध होने पर वह आम्ल भी हो जाता है।

पित्तप्रकृति मनुष्य के लक्षण

उष्णगुणसेः—उष्मा सहन नहीं कर सकता और शरीर कोमल और स्वच्छ होता है। शरीरमें पिपलू, झाई, तिल तथा खुजली आदि अधिक होते हैं। क्षुधा, प्यास अधिक लगती है। शरीर में सलवट पडना, बालों का सफेद होजाना, सिर मे गंज हो जाना आदि विकार होते हैं। डाढ़ी, मूछ, रोम और केश प्रायः नरम, छोटे, और भूरे रंग के होते हैं।

तीक्ष्ण गुणसेः—मनुष्य तीक्ष्ण पराक्रमवाले, तीक्ष्ण अग्नि वाले, अन्न और जलों को शीघ्र पचानेवाले या अधिक खाने वाले, क्लेश सहन करने की सामर्थ्यवाले होते हैं।

द्रवगुणसेः—मनुष्य के संधि और मांस नरम तथा शिथिल होते हैं। मलमूत्र तथा पसीना अधिक आते हैं।

विस्र गुणसेः—उनके वक्षस्थल, मुख, मस्तक और शरीरसे दुर्गंध आती है।

कटु और आम्ल गुणसेः—अल्पशुक्र, अल्पमैथुन एवं अल्पसंतान होती है।

उपरोक्त गुणसे पित्तप्रकृति के मनुष्य मध्य आयु तथा मध्य बलवाले और ज्ञानविज्ञान तथा धनसामग्रीवाले होते हैं।

पित्तस्थानानि

पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य।

सु. सू. २१-६

पक्वाशय और आमाशयके मध्यमें पित्तका स्थान है।

पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् च ।

सु. सू. २१-७

पित्तका स्थान यकृत, प्लीहा, हृदय, दृष्टि और त्वचा है।

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥

वा. सू. १२-२

पित्तके स्थानः—नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रक्त रस आँख और त्वचा है।

पित्त के कार्य

पित्त शरीरमें अन्नको पचाता और अन्नरसका ग्रहण करता है (वायुके कार्य देखिये)

दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥

च. सू. १८-५४

पित्तः—पाचन, उष्मा, दर्शन, भूख, प्यास, प्रीति, कीर्ति, मेधा, बुद्धि, शौर्य और देहमार्दवतासे शरीरको उपकार करता है।

पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः ॥ वा. सू. १२।२

क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः ।

वा. सू. ११-३

अग्नि और पित्त

न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेष्वाग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति; क्षीणेह्यग्निगुणे तत्समान-

द्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥ सु. सू. २१-९

इस विषयमें यह कहा जा सकता है कि वास्तवमें पित्तसे अन्य और शारीरिक अग्नि कोई प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि अग्न्येय भावके कारण पित्तसे दाहपाक आदि कार्य वर्तमान होनेपर अग्निके समानही उपचार किया जाता है; अतएव पित्त अन्तराग्नि है। तथा अग्निगुणतुल्य पित्तके क्षीण होनेमें अग्निसमान (उष्ण) द्रव्योंका उपयोग करनेसे तथा पित्तके बढ़नमें शीतल उपचार करनेसे और शास्त्राधारसे हम यह देखते है कि पित्तके अतिरिक्त और अग्नि नहीं है।

पित्तके प्रकार

पित्तं पंचात्मकं तत्र।

पित्त पांच प्रकारका है जैसे पाचक, रंजक, साधक आलोचक और भ्राजक।

पाचक पित्त

पक्वामाशयमध्यगम्।
पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥

वा. सू. १२-११,

त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणानलशब्दितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा ॥

वा. सू. १२-११

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥

वा. सू. १२-१२

इनमें पक्काशय और आमाशयके मध्यमें (ग्रहणीमें) रहनेवाला पित्त पंचभूतात्मक होनेपरभी तैजस् गुणकी अधिकतासे द्रवभागके नष्ट होनेके कारण कठिन बन जानेसे तथा पाकदाह आदि अग्नि के कार्य करने से अनल अर्थात् अग्नि शब्द से कहा जाता है। यह पित्त अन्न को पचाता है, सार और किट्ट भाग को पृथक् करता है, और वही बैठा हुआ शेष पित्तों को बल पहुँचा कर उन को बढ़ाता है। इस अग्नि समान पित्त को पाचक पित्त कहते हैं।

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। सु. सु. २१-१०

पक्काशय और आमाशय के मध्य में स्थित हुआ पित्त अदृष्ट प्रेरणा से विशेष प्रकार की परिपाटी द्वारा चारों प्रकार के अन्नपान को पकाता है तथा आहारप्रसादाख्यरस और मलरूप मूत्र पुरीष इन को पृथक् करता है। और वही स्थित हुआ अन्य चार पित्तस्थानों को तथा समस्त शरीर को अपनी शक्ति से और उष्णत्वादि कर्म से अनुग्रहीत करता है। इसी पित्त की संज्ञा "पाचकाग्नि" है।

रंजक पित्त

यत्तुयकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृदुक्तः॥ सु. सू. २१-१०

जो यकृत्प्लीहा में रहता है उस पित्त की संज्ञा "रंजक अग्नि" है। वह रस को रक्त बनाता है।

आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात् ॥

वा. सू. १२।१३

रंजकपित्त आमाशय में (आमाशय के सान्निध्य में स्थित यकृत में) रहता है और रस को रंग देने से रंजक कहलाता है।

साधक पित्त

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्।
साधकं हृद्गतं पित्तम्

वा. सू. १२।१३

साधकपित्त हृदय में रहता है। बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि वांछित अर्थ का साधन करने से साधक है।

यत् पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा।
सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः।

सु. सू. २१।१०

जो पित्त हृदय में स्थित होता है उसकी संज्ञा "साधकाग्नि" है। यह पित्त वांछित मनोरथ का साधन करनेवाला होता है।

आलोचक पित्त

रूपालोचनतः स्मृतम्। दृक्स्थमालोचकम्।

वा. सू. १२-१४

आलोचक पित्त आँखो में स्थित है; रूपको दिखाने से इसे आलोचक कहते हैं।

यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा। स रूपग्रहणाधिकृतः ॥

सु. सू. २१-१०

जो पित्त दृष्टि में रहता है उसकी संज्ञा "आलोचक अग्नि है। यह रूपग्रहण करने का अधिकारी है।

भ्राजक पित्त

यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा ।

सु. सू. २१-१०

जो पित्त त्वचा में होता है उसकी संज्ञा "भ्राजकाग्नि" है। वह मर्दन, सेंचन, अवगाहन लेपनादि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाता है और कांतिका प्रकाशक है।

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वच :॥

भ्राजक पित्त त्वचा में स्थित है; यह पित्त त्वचा को चमकाता है।

पित्तप्रशस्ति

तप इस संताप वाचक धातु को त यह प्रत्यय लगकर और वर्णविपर्यय होकर उस क्रिया करनेवाला ऐसा अर्थका पित्त शब्द निर्माण हुआ है। अग्नि पित्त में स्थित होने के कारण और अग्नि शरीरको बहुत उपयुक्त होने के कारण पित्त को आयुर्वेद में अत्यंत महत्त्व प्राप्त हुआ है।

(अग्निकर्म अग्निप्रकरण में देखिये)

कफ

उत्पत्तिस्थान:—समस्त देह विशेष कर के हृदय और रसवह स्रोतस में। मूलद्रव्य–रस। धात्वाग्नि–रसाग्नि। सूक्ष्मपचन में आहाररस के रसधातु में परिणाम होने के समय रसका मल इस स्वरूप में उत्पन्न होता है।

प्रमाण:— निश्चित नहीं है। (सुश्रुत) चरक–छ:अंजलियाँ।

वहनमार्ग:—सिरा, रसवाहिनियाँ।

पांचभौतिकत्व:—पृथ्वी और आप (भू. ज.)

कफगुण

स्निग्धः शीतोगुरुर्मंदः श्लक्ष्णो मृत्स्नःस्थिरःकफः ।

कफ--स्निग्ध, शीत, गुरु, मंद (देर में काम करनेवाला) श्लक्ष्ण (पिच्छिल के समान चिकना और कोमल) मृत्स्न (मलने से अंगुलीपर चिपटनेवाला) स्थिर (न फैलनेवाला) है।

स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यमात्स्यानि श्लेष्मणः आत्म-रूपाणि । च. सू. २०-२०

स्निग्धता, शीतता, श्वैत्य, गौरव, माधुर्य, मृदुता ये कफ के आत्मरूप हैं।

श्लेष्माश्वेतोगुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च ।
मधुरस्त्वाविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः ॥

उपरोक्त सब लक्षण कफ के हैं। विकृतावस्था में कफ नमकीन हो जाता है।

कफप्रकृति मनुष्य के लक्षण

मृदुगुणसेः—मनुष्य नम्र सुंदर, सुकुमार होता है।

मधुर गुणसेः—प्रभूत शुक्र, मैथुन और संततियुक्त होता है।

सारगुणसेः— मनुष्य का शरीर कठिन, मजबूत और पुष्ट होता है।

स्थिरगुणसेः—उद्योग, क्षोभ, और विकार ये सब विलंबसे होते हैं।

मंदगुणसेः—चेष्टा, और आहार, विहार मंद होते हैं।

शीतगुणसेः—क्षुधा, तृष्णा, संताप, स्वेद और दोष अल्प होते हैं।

पिच्छिल गुणसेः—शरीर के सब संधि और बंधन दृढ होते हैं।

स्वच्छ गुणसे— मनुष्य के दृष्टि, मुख, वर्ण और स्वर ये सब स्निग्ध तथा प्रसन्न होते हैं। उपरोक्त गुणसे कफप्रकृति मनुष्य बलवान, विद्वान, ओजस्वी, शांतस्वभाव तथा दीर्घायु होते हैं।

कफ के स्थान

आमाशयः श्लेष्मणः। सू. सू. २१।६

आमाशय कफ का स्थान है।

श्लेष्मणस्तूरः शिरः कण्ठसंधयः। सु. सू. २१।७

कफके स्थान छाती, शिर, कंठ, संधि और पूर्वोक्त आमाशय है।

उरः कंठः शिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणं च जिव्हा च कफस्य सुतरामुरः ॥

वा. सू. १२।३

छाती, कंठ, शिर, क्लोम, पर्व (संधी) आमाशय, रस, मेद, घ्राण, जिव्हा ये कफ के स्थान हैं। उनमें भी छाती कफ का मुख्य स्थान है।

कफ के कार्य

कफ शरीर को अपने प्रभावसे स्निग्ध और शीतल रख कर पूरण और पोषण कार्य करता है। (वायु के कार्य देखिये).

स्नेहोबंधःस्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलं।
क्षमाधृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्

च. सू. १८ ५५

अविकृत कफसे शरीरमें स्निग्धता, गठनता, दृढता, गुरुता, वृष्यता, बळ, धृति, निर्लोभता ये होते हैं।

तत्र आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात्तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वं गतित्वात्तेजसः चंद्र इव आदित्यस्य: स चतुर्विधस्याहारस्याधार स च तत्रोदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नोभिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति।

सु. सू. २१।१२

जैसे चंद्रमा आदित्यका (विरोधी होता है) वैसे कफ पित्तका विरोधी होनेके कारण तथा (पित्तरूपो) अग्निकी गति उपर की ओर होनेके कारण (कफस्थानोंमें) आमाशय पित्ताशयके उपर (स्थित रहता) है। वह आमाशय चतुर्विध खाद्य द्रव्योंका आधार है। वहाँ वह आहार (कफके) जलसंबंधी गुणोंसे द्रवरूप, पतला और महीन होकर सुखपूर्वक पचने योग्य हो जाता है।

श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसंधिबंधक्षमादिभिः।

वा. सू. ११।१३

कफ दृढांगता, स्निग्धता, सुश्लिष्टसाधित्व, सहिष्णुता आदिमें शरीरको उपकार करता है।

कफ के प्रकार

श्लेष्मातु पंचधा।

कफ पाँच प्रकारका है जैसे अवलंबक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और संश्लेष्मक।

अवलंबक कफ

उरःस्थःसत्रिकस्य स्ववीर्यतः।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवांबुकर्मणा।

कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलंबनम् ॥
अतोऽवलंबकः श्लेष्मा ।

वा. सू. १२।१५

छाती में रहता हुआही अपनी शक्तिसे त्रिक्का अवलंबन करता है और अन्नकी शक्तिसे हृदयका अवलंबन करता है। छातीमें रहता हुआही पानीके अपने कार्योंसे (क्लेदन, तर्पण, पूरण आदि) शेष कफ स्थानोंका अवलंबन करता है इसलिये इसको अवलंबक कफ कहते हैं।

उरस्थस्त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलंबनं करोति ।

सू. सू. २१।१४

वक्षस्थलमें स्थित हुआ कफ अपने पराक्रमसे त्रिक् स्थानको धारण करता है और अन्नरसके साथ मिलकर हृदयको अपने कार्यमें सामर्थ्य देता है।

क्लेदककफ.

आमाशयस्थश्लेष्मा स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।

सु. सू. २१।१४

आमाशयमें स्थित हुआ कफ कफके अन्यस्थानोंको तथा समस्त शरीरको अपने प्रभावसे उदककर्मके द्वारा अनुग्रहित करता है।

यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात ॥ वा.सू. १६।१६

जो कफ आमाशयमें रहता है वह अन्नसमूहका क्लेदन करनेसे " क्लेदकश्लेष्मा " कहलाता है।

बोधक कफ

...रसबोधनात् ।

बोधको रसनास्थायी ॥ वा. सू. १२-१७

जो कफ जिव्हामें रहता है वह रस का ज्ञान करानेसे बोधक श्लेष्मा कहा जाता है ।

जिव्हामूलकंठस्थो जिव्हेंद्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते । सु. सू. २१-१४

जिव्हाके मूलस्थान कंठमें स्थित हुआ कफ सौम्यतासे जिव्हा इंद्रियको सब प्रकारके रसोंके ज्ञान में प्रवृत्त करता है ।

तर्पक कफ

शिरस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिंद्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहंकरोति । सु. सू. २१-१४

सिर में स्थित हुआ कफ तैलादि संतर्पण का अधिकारी होने के कारण अपने प्रभावसे ज्ञानेंद्रिय को अपने कार्य में सामर्थ्य देता है ।

शिरः संस्थोऽक्षतर्पणात् ।
तर्पकः । वा. सू. १२-१७-१८

जो शिरमें रहता हुआ इंद्रियों का तर्पण करता है वह तर्पक श्लेष्मा है ।

श्लेष्मक श्लेष्मा

संधिसंश्लेषाच्छ्लेषकः संधिषु स्थितः ।
वा. सू. १२-१८

जो कफ संधियों में रहता हुआ संधिओंको जोडता है वह श्लेष्मक कफ है।

संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात् सर्वसंध्यनुग्रहं करोति।

संधिगत श्लेष्मा समस्त संधिओं का श्लेषण करने के कारण सर्व संधियोंका अनुग्रह करता है।

कफ प्रशस्ति

श्लिष्—जोड़ना इस श्लेष्मणार्थ धातुको मलिन् यह प्रत्यय लगकर उस क्रिया करनेवाला ऐसा अर्थ का श्लेष्मा शब्द निर्माण होता है। वायु गतिमान्, पित्त उष्मा देनेवाला तो कफ परिमाणुओं का संयोग करके शरीरको दृढत्व और बल देनेवाला है। सब शरीर पृथ्वी और आप् भूयिष्ठ होने के कारण कफ उस को अत्यंत उपयुक्त और आवश्यक है।

त्रिदोषोंकी पहचान

"जो पिंडमें वह ब्रह्मांडमें" इस वचनके अनुसार पृथ्विपरके सब पदार्थ पंचमहाभूतात्मक हैं और उन्हीं पंचमहाभूतोंसे हमारा शरीर बना हुआ है। पंचमहाभूतोंके क्षेत्रमेंका एक पदार्थ शरीर है। पंचमहाभूतोंसे द्रव्य लेकर वह बना हुआ है। अपने कार्य करने समय शरीर के घटक धीरे धीरे क्षीण होकर नष्ट होते हैं और पंचमहाभूतोंमेंही विलिन होते हैं। क्षीण होनेवाले घटक फिर निर्माण करने का प्रबंध अगर शरीरमें न होता तो अल्प समयमें शरीर नष्ट हो जाता। परंतु शरीरके क्षीण घटक पुनः बनानेका प्रबंध है। उन घटकोंका पूरण होनेके लिये शरीर इर्दगिर्द पाँच भौतिक सृष्टि की ओर

माँग करता है और सृष्टिमेंके द्रव्य स्वेच्छासे लेकर अपनेमें समाविष्ट कर लेता है। तदनंतर वह उन द्रव्योंको अपनाता हैं।

आवश्यक द्रव्य निसर्गसे शरीर उठा लेता है। उसी प्रकार आवश्यकतासे अधिक द्रव्य बाहरही फेकनेकी चेष्टा वह करता है। वह आवश्यक द्रव्य संबंधी जिस प्रकार इच्छा क्षुधा, तृषा आदि चिन्ह निर्माण करता है उसी तरह आवश्यकतासे अधिक हुआ द्रव्य संबंधी द्वेष का चिन्हभी व्यक्त करता है।

शरीर के चारों ओर निसर्गमें अनगनित द्रव्य बिखरे हुअे हैं। उन द्रव्योंमें से जो द्रव्य शरीरमें अधिक मात्रामें लिये जाते है उनका जो असर होगा उससे शरीरमें कुछ लक्षण निर्माण होते हैं। उदाः—नारियल का पानी, चंदनादिद्रव्य अधिकमात्रामें शरीरमें जानेसे शीतता बढकर सर्दी लगना, और जुखाम आदि चिन्ह निर्माण होते हैं। इसके विरुद्ध चित्रक, लहसून आदि पदार्थ अधिक मात्रामें शरीरमें जानेसे तीक्ष्ग गुण बढकर दाह यह चिन्ह दिखाई देता है। दाह या जुखाम ये लक्षण जब दिखाई देते है तब तीक्ष्ण और शीत गुणोंके आधार द्रव्य शरीरमें आवश्यकतासे अधिक संचित हुअे हैं यह स्पष्ट होता है। शरीरमें आवश्यकतासे अधिक संचित और शरीरको बाधक द्रव्य—शरीरमें दुःख संवेदना निर्माण करनेवाले द्रव्य—इन्हें ही दोष कहते हैं। इन्हीं द्रव्योंने उपरोक्त लक्षण व्यक्त करके शरीरको दूषित किया है इसलिये वे शरीरस्थ द्रव्य दोष कहलाते हैं। इसी तरह शरीरमें आवश्यकतासे अधिक द्रव्य संचित होनेके बाद

जो लक्षण प्रतीत होते हैं उन्हें कारणीभूत होनेवाले गुण बीस प्रकारके हैं।

गुरुमंदहिमस्निग्धश्लक्ष्णसांद्रमृदुस्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥
वा. सू. १-१८

भारी, मंद, शीत, स्निग्ध, चिकना (श्लक्ष्ण) घन, मुलयम (मृदु) ठोस, सूक्ष्म और विशद और इनके विरुद्ध क्रमसे हलका, तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, खर्दला, पतला, कठिन, द्रव, स्थूल लसीला इन बीस गुणोंमेंसे स्निग्ध, शीत, भारी, मंद, मृदु, लसीला और घन ये गुण पंचमहाभूतोंमेंसे पृथ्वी और आप् भूयिष्ठ द्रव्योंमें दिखाई देते हैं। और यदि ये द्रव्य आवश्यकतासे अधिक मात्रामें शरीरमें लिये गये और अपनी अधिकतासे आलस्य, जडता, मृदुता आदि लक्षण व्यक्त करने लगे तो हम कह सकते हैं कि शरीरमें दोष निर्माण हुआ है। ये शरीरस्थ द्रव्यही कफदोष कहलाते हैं।

स्निग्धः शीतो गुरुर्मंदश्लक्ष्णमृत्स्नः स्थिरः कफः।

उपरनिर्दिष्ट बीस गुणोंमेंसे स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दुर्गंध प्रसरणशीलता और द्रव ये गुण पंचमहाभूतोंमेंसे तेजोभूयिष्ठ द्रव्योंमें रहते हैं। ये द्रव्य यदि आवश्यकतासे अधिक मात्रामें शरीरमें लिये गये और वे अपनी अधिकतासे तृष्णा, दाह, ज्वर, आदि लक्षण व्यक्त करने लगे तो शरीरमें दोष उत्पन्न होता है ऐसा हम कहते हैं। इन शरीरस्थ द्रव्योंकोही पित्त दोष कहते हैं।

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।

उसी प्रकार बीस गुणोंमेंसे रुक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म

चल ये गुण पंचमहाभूतोंमेंसे वा, और आकाश भूयिष्ठ द्रव्यमें दिखाई देते हैं। ये द्रव्य यदि आवश्यकतासे अधिक मात्रामें लिये गये और वे अपनी अधिकता निद्रानाश, रूक्षता, और लघुता आदि लक्षणोंसे व्यक्त करने लगे तो समझ जाना कि शरीरमें दोष पैदा हुआ है। इन शरीरस्थ द्रव्योंकोही वायुदोष कहते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें ये त्रिदोष हैं।

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

अविकृत दोषोंके स्वरूपका ज्ञान स्पष्ट होनेके लिये विकृत दोषोंका स्वरूप प्रथम बताया गया है। गुरु आदि गुणोंके आधारभूत द्रव्य आवश्यकतासे अधिक मात्रामें शरीरमें जानेसे वे अपने गुणोंका अस्तित्व विविध लक्षणोंसे व्यक्त करते हैं। येही द्रव्य जब शरीरमें आवश्यकतानुसार लिये जाते हैं तब उपर के निर्दिष्ट कोईभी लक्षण निर्माण नहीं होता अपि तु शरीरमें सुखसंवेदना–आनंद–निर्माण होती है। दाह आदि दुःखात्मक नैमित्तिक कारण मनको खींच लेते हैं और अखंड चुभते हैं जिससे उनके अस्तित्वकी प्रचीति होती रहती है। किंतु सुख स्वाभाविक होनेके कारण उनके लक्षण दिखाई नहीं देते या उनकी प्रचीति भी नहीं आती।

सुखका अर्थही आरोग्य या स्वस्थता है। इस आरोग्यावस्थामेंही शरीरके अधिष्ठान मनको और बुद्धिको कर्तव्य करनेकी स्फूर्ति तथा बल प्राप्त होता है। यही अवस्था साम्यावस्था कहलाती है। और जब अयोग्य आहारसे–अयोग्य द्रव्य शरीरमें लेनेसे दोष आवश्यकतासे अधिक या कम होते

हैं, तब शरीरस्थ दोषोंका साम्य बिगड़ जाता है याने विषम होता है। शरीरक्रिया चलानेके लिये तीनोंही दोषोंका प्रमाण जिस मात्रामें आवश्यक है उस प्रमाणमें दोषोंका अस्तित्व दोषसाम्य कहलाता है। तथा आवश्यकतासे दोषद्रव्य अधिक या कम होना ये दोनोंही अवस्थाएँ दोष-वैषम्य कहलाती हैं।

द्रव्योंपर आश्रित सभी गुणोंकी आवश्यकता–तदाधारभूत दोषोंकी आवश्यकता–शरीरको होती है। ये द्रव्य शरीरमें लेना आवश्यक हैं। ये द्रव्य आवश्यकतानुसार लिये जाय तो उनमें से योग्य और आवश्यक ऐसे द्रव्य–दोष–शरीरमें पैदा होते हैं और दुःखको कारणभूत ऐसे लक्षण शरीरमें न होकर उपकारक ऐसे छेदन, भेदन, दीपन, पाचन, तर्पण, गतिमानता, आदि कार्योंकी सहायता की जाती है। ऐसे समय इन्हीं दोषोंको त्रिधातु कहते हैं। क्योंकि ये शरीरको धारण करते हैं। इसके विरुद्ध बीस गुणोंके आधार-भूत ऐसे द्रव्य शरीरमें आवश्यकतासे अधिक या कम मात्रामें लिये गये तो उनसे शरीरमें तद्गुणात्मक ऐसे द्रव्य–दोष–कम या अधिक मात्रामें निर्माण होकर शरीरको अस्वस्थ करते हैं। इससें इन्हें दोष यह उपाधि प्राप्त होती है।

चरकाचार्यने दोषोंको शत्रु माना है और सूचना दी है कि जो अपनी आयु दीर्घ हो ऐसी इच्छा करते हैं वे दोषोंको शत्रु मानें और शत्रु जैसा बर्ताव दोषोंसे करें।

नित्यसंनिहिताऽमित्रं समीक्ष्यात्मानमात्मना।
नित्यं युक्तः परिचरेत् इच्छन्नायुरनित्वरम्।

च.

त्रिदोष ये द्रव्य हैं

विद्वान वैद्योंमें त्रिदोषोंके बारेमें पृथक् पृथक् विचार प्रणालियाँ है। जैसे:—

(१) कोई वात, पित्त, कफको शक्ति मानते हैं। इसलिये वे अदृश्य और अगम्य होते हैं। उनकी क्रियाएँ केवल शरीर-पर होनेवाले लक्षण रूपसे दिखाई देती हैं।

(२) त्रिदोषोंके स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो स्वरूप हैं। याने ये दृश्य द्रव्य हैं और उनमें अदृश्य शक्ति है।

(३) त्रिदोष केवल द्रव्य है। वायु हवामेंकी प्राणवायु और गुदामेंकी कर्बाद्विप्राणिदवायु (Co^2) के समान होनेके कारण अदृश्य है।

(४) कोई वायुको शरीरमें की प्रमुख प्राणशक्ति मानते हैं।

किंतु त्रिधातु-त्रिदोष गूढ और अज्ञेय है ऐसा कहा नहीं जा सकता क्योंकी उनकी शरीरमेंकी उत्पत्ति, उनके गुणधर्म और स्वरूप आदिका वर्णन आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें स्पष्ट और विस्तरशः दिया है। उनका शरीरपर परिणाम कैसा होता है तथा उनका रोगोंके साथ क्या संबंध है आदिका स्पष्टीकरण आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें है और निदान चिकित्सामें भी इन बातोंका अनुभव मिलता है।

१९३५ सालमें बनारसके हिंदु विश्वविद्यालयमें जो त्रिदोष चर्चा परिषद् हुआी थी इससमय महशूर पंडितोंकी चर्चा होकर आगे वर्णित निर्णय प्रसिद्ध हुआ।

शक्तेर्द्रव्याधिष्ठितत्वेन स्वतंत्रावस्थितत्वाभावात् वातादिनां न शक्तित्वं किंतु द्रव्यत्वमेव। पित्तकफयो-रवस्थाभेदेन स्थूलत्वं (चक्षुरिंद्रियग्राह्यत्वं) सूक्ष्मत्वं

(चक्षुरिंद्रियाग्राह्यत्वं) च वायोस्तु कफपित्तापेक्षया सूक्ष्मत्वम् । अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च इत्यभिधानात् ।

इसका अर्थ ऐसा है कि शक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकती उसको द्रव्योंका आधार लगता है। अतएव वात, पित्त, कफ, ये शक्ति नहीं हैं। किंतु स्थानानुसार वे किसी जगहमें चक्षुरिंद्रियको दिखाई देते हैं अतएव स्थूल और किसी जगहमें दिखाई नहीं देते हैं इसलिये सूक्ष्म है। परंतु वायु अदृश्य होनेके कारण सूक्ष्म है किंतु क्रियाओंसे वह व्यक्त होती है।

स्निग्ध, शीत, भारी, मंद, श्लक्ष्ण, मृदु, घन, ऐसा कफका स्वरूप है। पुनः वह स्थूल या सूक्ष्म हो, उसमें उपरोक्त गुण-धर्म दिखाई देते हैं। कफको शक्ति कहकर कह नहीं सकते क्योंकि गुणधर्म या शक्ति यह द्रव्यपर अधिष्ठित रहती है। अविकृत कफका परिमाण छः अंजलियाँ है ऐसा आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें उल्लेख है। उससे यह द्रव्य जल, रसधातु, रक्त आदिके समान पतला है यह स्पष्ट होता है। यदि कफके स्निग्धादि गुण इंद्रियगोचर होते हैं तोभी उसके अन्य गुण कर्मानुमेय होनेके कारण कफ द्रव्य है यह सिद्ध होता है।

उपरोक्तके समान यदि पित्तके उष्णतीक्ष्णादी गुण इंद्रिय-गोचर है तोभी उसके अन्य गुण कर्मानुमेय है। शरीरमें पित्त का परिमाण पाँच अंजलियाँ है ऐसा उल्लेख ग्रंथोंमें प्रतीत होता है उससे ही यह एक पतला द्रव्य है यह सिद्ध होता है। पित्त का स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म होना संभव है तोभी उपरोक्त विधानोंसे यह द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है।

८

पित्त और श्लेष्मा ये द्रव्य अवयवसंघातयुक्त और स्थिर होते हैं। उसकेविरुद्ध वायुद्रव्य चल और अवयवसंघातरहित है। उससे इस द्रव्यका ज्ञान होना बहुत कठिन होता है। पांचभौतिक द्रव्य सहसा स्थूल होते हैं किंतु वायुद्रव्य कोई जगहमें स्थूल और बहुत जगहमें अदृश्य ऐसा दिखाई देता है।

चरकाचार्यने वायुके आत्मधर्म बताये है जैसे:

"रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि"। च. सू अ. २०

यहाँपर अमूर्तत्वका अर्थ यह नहीं है कि वायु आकार रहित है। किंतु यह अन्य वायुओंके सदृश दृश्य नहीं होती है। शरीरमें की और सृष्टिमें की वायु समानहीं होती है। याने "तत्र रूक्षो लघुःशीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः। इसमें वर्णित रूक्षादिगुण दोनों वायुओंमें दिखाई देते हैं। सूक्ष्मशब्द का अर्थ हेमाद्रिके व्यक्तव्यमें "यस्य विवरण कर्माणि शक्ति ससूक्ष्मः" याने स्रोतः संचारी ऐसा बताया गया है। जोभी वायुद्रव्य अनुष्णशीत कहा गया है तो भी शरीरमें संचार करनेवाले इस द्रव्यका उष्ण उपचारसे शमन होता है। इसलिये चिकित्साकि दृष्टिसे यह द्रव्य शरीरांतर्गत शीत द्रव्य है ऐसा मानना उचित है। उसी प्रकार वायु द्रव्यमें दारुण विशदादि गुणभी इंद्रियोंसे ज्ञात होते हैं।

वायुको अव्यक्त व्यक्तकर्मा कहा है। याने यदि वायु अदृश्य है तो भी कर्मसे प्रतीत होती है। उपर किये हुअे विवेचनके कारण यह मानना प्राप्त है कि वायु द्रव्य है और बाह्य वायुके समान यह भी वायुरुप है।

दोष तीनही क्यों माने गये ?

जिनपर शरीरका स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य निर्भर है और जिनपर शरीरका पूरा व्यापार अवलंबित है ऐसे तीन ही द्रव्य माने गये हैं क्योंकि–

(१) शरीरमें संचार करनेवाले और उत्पन्न होनेवाले तीनही द्रव्योंका उल्लेख आयुर्वेदमें है।

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि ।

च. वि. ५।६

(२) जोभी सृष्टिमें तथा शरीरमें सर्व द्रव्य पांचभौतिक हैं तोभी उनमें कार्यकारी द्रव्य तीनही माने गये हैं। वे हैं आप, तेज, वायु। पृथ्वी स्थिर और आकाश रंध्रयुक्त होनेके कारण अपने कार्योंके लिये उन दोनोंको उपरोक्त तीन द्रव्योंकी सहायता लेना आवश्यक है। इसलिये आप, तेज और वायु घटित ऐसे दोष तीनही है ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा। (पृष्ठ ८८, त्रिदोषों का सामान्य कार्य देखिये)

(३) शुक्र शोणित संयोगमें देहेत्पत्ति के समयसे जिन द्रव्योंका अस्तित्व प्रतीत होता है किंबहुना जिनकी मददसे गर्भकी वृद्धि होती है वे द्रव्य वात पित्त कफ ही हैं। उनके प्रकृत्यारंभत्वके कारण उनकी गिनती तीन दोष और धातुमें की गयी है।

(४) दोषधातुमलमें से केवल दोष सर्व संचारी और स्रोतोगामी है। इससे वे धातु और मल को इनकी विकृतावस्था में दुष्ट बना सकते हैं। अतएव धातु और मल को दूष्य ऐसी संज्ञा प्राप्त हुई है।

(५) आयुर्वेद में शरीर रचना (प्रकृति) का विचार करते समय वातादि प्रमुख तीन का उल्लेख दिखाई देता है। इसलिये हम मान सकते हैं कि दोष तीनही हैं।

(६) चिकित्सा में शोधन की दृष्टि से वमन, विरेचन, बस्ति ऐसे तीनही मार्ग कहे गये है इससे सिद्ध है कि दोष तीनही है।

(७) इसी प्रकार दोषों के स्थानों का उल्लेख करते समय शास्त्रकारोंने मुख्यतः तीनही स्थानोंका उल्लेख किया है अतएव दोष तीनही माने जाये।

ते व्यापिनोऽपि हन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।

वा. सू. १-७

(८) आयुर्वेदीय ग्रंथों में प्रायः तीनही विपाकोंका वर्णन दिखाई देता है। इन तीन विपाकों के कारण अगर दोष तीन माने जाये तो अनुचित नहीं होगा। मधुर विपाक द्रव्य से कफ की, आम्ल विपाकसे पित्तकी और कटु विपाकसे वायु की उत्पत्ति होती है।

क्या रक्त चौथा दोष माना जाय ?

सुश्रुताचार्यने वातादि दोषों के साथ रक्तदोष भी माना जाय ऐसी राय व्यक्त की है। निम्नलिखित प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है।

(१) सुश्रुतके एक्किस अध्याय में (सूत्रस्थान) वातादि दोषों के स्थान कहने के बाद रक्त का स्थान लिखकर "एतानि खलु दोषस्थानानि एषु संचीयन्ते दोषाः।" याने ये सर्व दोषस्थान हैं और इन में दोषों का संचय होता है ऐसा कहा गया है।

(२) उसी ग्रंथ के चौदहवे अध्याय में वातादि दोषों से बिगड़े हुअे रक्त के लक्षण कहने के बाद रक्त से दुष्ट हुअे रक्त का " पित्तवत् रक्तेन अतिकृष्णं च " याने रक्त दोष से बिगड़ा हुआ रक्त पित्तदोष से दूषित रक्त के समान होता है ऐसा वर्णन है।

(३) सुश्रुत में शारीरस्थान में " शुक्रशोणितशुद्धि-शारीरम् " इस अध्याय में कहा है कि वातादि दोष और रक्त से बिगड़े शुक्र में संतति उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता है।

रक्त शरीर का जीवन है और वह शरीर को धारण करता है इसीलिये उसे धातुसंज्ञा प्राप्त है। किंतु वातादि दोषों के साथ पुनः पुनः रक्त का उल्लेख मिलता है इसलिये रक्त को चौथा दोष माना जाय ऐसा मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

दुष्टरक्त से होनेवाले रक्तार्श, रक्तपित्त, रक्तप्रदर ये विशेष रोग और दुष्ट रक्तपर विशेष चिकित्सा का विचार भी ग्रंथोंमें है। इस से रक्तदोष माना जाय इस विधान का समर्थन होता है।

पूर्वपक्ष	उत्तरपक्ष
रक्तको दोष माननेवालों के प्रमाण	रक्तको दोष न मानने-वालों के प्रमाण
(१) रक्तदुष्टिके रोग, आयुर्वेद में दिखाई देते हैं।	वातादि दोंषो सेही रक्त दुष्टि होती है। स्वतंत्ररूप में रक्त औरों को दूषित नहीं कर सकता है।

(२) यथा समय रक्त-स्राव न किया जाय तो रक्त दुष्टि के रोग होते हैं।

वातादिसे दुष्ट हुअे रक्तका स्राव यथासमय न किया जाय तो रक्त दुष्टि के रोग होते हैं या हुअे रोग दुरुस्त नहीं होते।

(३) वातादि के समान रक्त की चिकित्सा भी ग्रंथों में पायी जाती है।

वह चिकित्सा केवल रक्त की नहीं होती तो वातादि से दुष्ट हुअे रक्त की है।

(४) देहोत्पत्ति के समय वातादि दोषों के समान रक्त की उपस्थिति रहती है।

सूक्ष्म स्रोतो में वातादि की तरह रक्त प्रवेश नहीं कर सकता है। अतएव उसे प्रकृत्यारंभकत्व नहीं हैं। उसी प्रकार रक्त की उत्पत्ति रक्त-वाही स्रोतस में होती है तो वातादि की उत्पत्ति संपूर्ण शरीर में होती है।

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्

वायुः पितं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

वा. सू. १–६

विकृताविकृतं देहं घ्नंति ते वर्तयन्ति च ॥

वा. सू. १–७

संक्षेपतः शरीर में वायुपित्त और कफ ये तीन दोष है। उन के विकृत होने से जीवन नष्ट होता है। और अविकृत अवस्था में (समावस्था में) वे जीवन व्यापार चलाते हैं।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
सप्तदूष्या मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपिच ॥

रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातु हैं। उन्हेंही दूष्य संज्ञा प्राप्त है। मूत्र, पुरुष, स्वेद आदिको मल कहते हैं। वे दूष्यही हैं क्योंकि दोष दोनोंकोभी दूषित करते हैं।

शुक्रशोणित संयोगके बाद गर्भमें वातादि दोषोंकी तरह रक्तधातुका अस्तित्व रहता है। तदनतर गर्भकी वृद्धि माताके आहाररससे और जन्मके बाद शरीरकी वृद्धि हरएक मनुष्यके आहाररससे होती है। आहार पांचभौतिक है। पांचभौतिक और चतुर्विध अन्नसे जो मुख्य भाव उत्पन्न होते हैं वे धातु और मल कहलाते हैं। (पृष्ठ ५५ देखिये) शरीरके सब अवयव धातु (प्रसादधातु) और प्रसादमल घटित होते हैं। उपरोक्त धातुओंमें त्रिदोषोंका संचार होता है और वे तद्घटित अवयवोंपर नियंत्रण रखते है। इसकाभी उल्लेख ग्रंथोंमें है कि शरीरमेंके सब स्रोतस प्रसादधातु और प्रसादमल घटित होते हैं। (पृष्ठ ५९ देखिये) संपूर्ण शरीर स्रोतसही है और त्रिदोष संपूर्ण शरीरको व्याप्त है। शरीरके समस्त कार्य दोष-धातुमलपर निर्भर है। इसीसेही " दोषधातुमलमूलंहि शरीरम् " कहा गया है। (दोषधातुमलोंके कार्य देखिये।

ते व्यापिनः।

इस सूत्रका उल्लेख अष्टांग हृदयमें अध्याय १ सूत्र ७ में है। वाग्भटाचार्यने वातादि दोषोंके मुख्य स्थान बताते समय स्पष्ट लिखा है कि दोष संपूर्ण शरीरमें व्याप्त रहते हैं।

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।

त्रिदोष यद्यपि सारे शरीरमें व्याप्त हैं तथापि मुख्यतः

नाभीके निचले भागमें वायुका, हृदय और नाभीके मध्य-भागमें पित्तका एवं हृदयके उपर भागमें कफका स्थान है।

वातादिकों के दुय्यम स्थानोंका उल्लेख दोष प्रकरणमें पहलेही किया है। (वातादि त्रिदोष प्रकरण देखिये) जोभी वातादिकोंके पृथक् पृथक् विशेष स्थान कहे गये हैं तोभी त्रिदोष संपूर्ण शरीर व्याप्त है यह सत्य है क्योंकि " वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि च " याने वायु, पित्त, कफ आदिके स्रोतस संपूर्ण शरीरमें फैले हुअे हैं और सुक्ष्मस्रोतसोंमें भी उनका भ्रमण होता रहता है।

दोषोंकी त्रिविध गति

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा ॥

च. सू. १७-१११

त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु।
चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ॥

च. सू. १७-११२

भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु।

च. सू. १७-११३

गतिः कालकृतांचैषा चयाद्या पुनरुच्यते।
गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या

च. सू. १७-११४

प्रमाणतः—क्षय, साम्य, वृद्धि।

गुणत :—प्राकृत गुण नष्ट होकर विकृत होना उदा० कफ पतला और घन होना।

स्थानतः--दोष स्वस्थानमें से उपर नीचे और तिर्यक् (तेढे) और कोष्ठ शाखा और मर्म में जाते हैं।

प्राकृतः--प्राकृत पित्त अन्न का पाचन करता है किंतु विकृत दाह करता है।

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन्वसंतेऽन्त्यान्रसान्भजेत्।

शीतऋतु (हेमन्त और शिशिर) और वर्षा में मधुर, आम्ल, लवण इन तीन रसोंका सेवन करें। वसंत मे पिछले तीन अर्थात् तिक्त, कटु, कषाय रसों का सेवन करें।

स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्।

वा. सू. ३-५६

ग्रीष्म ऋतु में मधुर रसका और शरद में-मधुर तिक्त और कषाय रसका सेवन करें।

शरद्वसंतयो रूक्षं शीतं घर्मघनांतयोः।
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यथा॥

वा. सू. ३-५६

संक्षेप में शरद् एवं वसंत में रूक्ष खानपान का सेवन करें और शेष ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, और हेमंत में स्निग्ध भोजन का सेवन करें। ग्रीष्म और शरद् ऋतु में शीतल खानपान लेना चाहिये और वर्षा, हेमंत, शिशिर में उष्ण खानपान बरतना चाहिये।

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ॥

वा. सू. ३-५७

सब ऋतुओं में सब रसों का अभ्यास करना चाहिये परंतु प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु के अपने अपने रसोंका अधिक मात्रा में सेवन करना हितकर है।

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।
वा. सू. १२-२४

वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ।
वा. सू. १२-२५

ग्रीष्म, वर्षा, शरद् इन ऋतुओं में वायुका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशमन होता है। वर्षा, शरद् और हेमन्त में पित्तका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशमन होता है। शिशिर, वसंत और ग्रीष्म में कफ का क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशमन होता है।

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ॥
वा. सू. १२-२५

तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥
वा. सू. १२-२६

पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषाधिभिः कफः ॥
वा. सू. १२-२६

तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।
वा. सू. १२-२८

ग्रीष्मकाल में लघु, रुक्ष गुणवाली औषधीयों से (खान-पान से) लघु रुक्ष गुणवाली वायु-लघु रुक्ष शरीर में संचित होती है। परंतु ग्रीष्म काल के उष्ण होने से कुपित नहीं होती। वर्षाऋतु में जल का आम्लपाक होनेसे औषधियोंका भी आम्ल पाक हो जाता है जिससे पित्त संचित होता है। परंतु वर्षाकाल के शीतल होनेसे कुपित नहीं होता। शिशिर में स्निग्ध, शीतल

आदि जलीय औषधियोंसे कफ संचित होता है परंतु काल और शरीर के समान (शीत) होनेपर भी-जमा होनेसे कुपित नहीं होता।

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्।
वा. सू. १३-३३

ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्।
वा. सू. १३-३४

ग्रीष्म में संचित वायु को श्रावण मास में, वर्षा में संचित पित्त को कार्तिक में और हेमन्त में संचित कफ को चैत्र में शरीर से बाहर निकालें। ये साधारण समय है। उन में शोधन उचित है।

चेतनावृत्ति आयुः तस्य बाल्यादि अवस्थाः कालमृत्युश्च।

आयुष्य का लक्षण पहले कहा गया है। जिन्दावस्था को ही संक्षेप में आयुष्य कहते हैं।

काल के प्रमाणपर निर्भर रहनेवाली शरीर की अवस्था -"उमर" कहलाती है। साधारणतया कलियुग में मनुष्यों की आयुर्मर्यादा सौ साल की मानी गयी है। वयोवस्था तीन प्रकार की होती है। जैसी बाल्यावस्था, मध्यमावस्था और वृद्धावस्था। उन में षोडष वर्षतक बाल्यावस्था होती है। वे भी तीन प्रकार की होती है। बच्चे (१) दूध पीने-वाले (२) दूध और अन्न सेवन करनेवाले और (३) अन्न सेवन करनेवाले होते हैं। उनमें एक वर्ष की अव-स्थातक दूध पीनेवाले, एक वर्ष के बाद दो वर्षतक (दूसरे और तीसरे वर्ष में) दूध और अन्न दोनों का आहार करने-वाले, आगे षोडष वर्षतक केवल अन्न सेवन करनेवाले

होते हैं। इस अवस्था में शरीर में के समस्त धातु अपरिपक्व होते हैं; डाढ़ी और मूछ आदिका चिन्ह प्रकट नहीं होता है और शरीर सुकुमार, कष्ट सहन न कर सकनेवाला और अपूर्ण बल का रहता है।

सोलह से सत्तर के बीच में मध्यमावस्था होती है उनमें (१) सोलहसे बीस तक विवर्धमानावस्था रहती है (२) बीससे तीस तक यौवनावस्था रहती है जिस में मन अस्थिर रहता है (३) तीस से चालीस वर्ष तक समस्त धातु, इंद्रियें, शक्ति और वीर्य को पूर्णावस्था प्राप्त होती है और (४) चालीससे सत्तर तक समस्त शरीर को धीरे धीरे क्षीणत्व प्राप्त होता है। आयुष्य की मध्यमावस्था में मनुष्य के बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहणशक्ति, स्मरणशक्ति, धारणशक्ति, कर्तृत्वशक्ति तथा समस्त धातुओं के गुण आदि को धीरे धीरे संपूर्णावस्था प्राप्त होती है।

सत्तर वर्ष के उपरान्त (वृद्धावस्था में) मनुष्य के सर्व धातु, इंद्रियें, बल, वीर्य, उत्साह दिन दिन क्षीण होते हैं। त्वचा में झुर्रियाँ पडती हैं, बाल सफेद या नष्ट होते हैं। मनुष्य खाँसी, श्वास आदि उपद्रवों से पीड़ित होते हैं। कुछ भी काम करने की शक्ति शरीर में नहीं रहती।

बाल्ये विवर्धते श्लेष्मा, मध्यमे पित्तमेवतु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्॥

सु. सू. ३५-३१

बाल्यावस्था में कफ बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त बढ़ता है, और वृद्धावस्था में वायु बढ़ती है। इसलिये इसको देख कर औषधादिकी योजना करनी चाहिये।

शरीरमेंके अंगप्रत्यंगोंका प्रमाण

शरीरके अंगप्रत्यंगोंका प्रमाण आयुष्यके ज्ञान होनेके लिये सहाय्यभूत होता है ।

मध्यभाग (अंतराधि), (दो) सक्थि, दो (बाहु) और सिर ये (छः) अंग हैं और उनके अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं।

प्रत्यंगोंमें अपने अंगुलोंसे पावँके अगुठे और प्रदेशिनीकी लंबाई दो-दो अंगुलकी होती है । प्रदेशिनीसे मध्यमा, मध्यमासे अनामिका, और अनामिकासे कनिष्ठिका क्रमसे पाँचवा भाग कम होती जाती है । पादतल चार अंगुल लंबे और पाँच अंगुल चौडे होते हैं । पार्ष्णि पाँच अंगुल लंबी और चार अंगुल चौडी होती है । पाँव चौदह अंगुल लंबा होता है । पादमध्य, गुल्फमध्य, जंघामध्य तथा जानुमध्य चौदह अंगुल परिणाहके होते हैं । जंघा अठारह अंगुल लंबी होती है । जानुसंधिसे उप्परका भाग (कटिसंधितक) बत्तीस अंगुल लंबा होता है । और इस प्रकार (जंघा, जानु और उप्परका भाग मिलकर) लंबाई पचास अंगुल होती है । जंघाके समान ऊरू लंबे होते हैं । वृषण, ठोडी, दाँत, नासापुटका बाह्यभाग कर्णमूल और आँखोंका मध्यभाग ये दो-दो अंगुल होते हैं । शिश्न, व्यात्तमुख (पूर्णतया खुला हुआ मुख) नासावंश, कर्ण, ललाट, ग्रीवा ओर दृष्टिमंडलके बीचका अंतर ये सब चार-चार अंगुल होते हैं । योनिविस्तार, शिश्न और नाभिका अंतर, नाभि और हृदयका अंतर, हृदयसे ग्रीवामूलतकका अंतर दोनों स्तनोंके बीचका अंतर, चिबुकसे ललाटके अंततकका अंतर मुखका दैर्ध्य तथा मणिबंध और प्रकोष्ठका परिणाह ये सब बारह-बारह अंगुलके होते हैं । जंघामध्यका

परिणाह, कंधा और कोहनीके बीचका अंतर ये सोलह अंगुलके होते हैं। कोहनीसे मध्यमांगुलीके अग्रतक चौबीस अंगुलका हाथ होता है। दोनों भूज बत्तीस अंगुलके होते हैं। दोनों उरू प्रत्येक बत्तीस अंगुल परिणाहकी होती हैं। मणिबंधसे कोहनीतककी लंबाई सोलह अंगुलकी होती है।

हस्ततल चार अंगुल चौडा और छः अंगुल लंबा होता है। अंगुष्ठके मूलसे तर्जनी का अंतर कानसे नेत्रके बाह्यकोणका अंतर तथा मध्यमांगुलिकी लंबाई प्रत्येक पॉच पॉच अंगुलकी होती है। प्रदेशिनी और अनामिका साढेचार अंगुलकी तथा अंगूठा और कनिष्ठिका साढेतीन अंगुलकी होती है। चार अंगुल विस्तारका मुख और बीस अंगुलपरिणाहकी ग्रीवा होती है। नासापुटका विस्तार १$\frac{1}{3}$ अंगुल होता है। नेत्रका तिहाई कृष्णमंडल होता है। कृष्णमंडलका नवमांश दृष्टिमंडल होता है। केशमर्यादासे शिरोमध्य भाग ग्यारह अंगुल होता है। मस्तक मध्यभागसे ग्रीवापश्चिमभागका केशान्त दशांगुल होता है। पिछली तरफसे दोनों कानोंके बीचका अंतर चौदह अंगुल होता है। पुरुषके छातीके समान विस्तारकी स्त्रियोंकी श्रोणि होती है। स्त्रियोंका वक्षभाग अठारह अंगुलके विस्तार का होता है। और पुरुषोंकी कटिभी अठारह अंगुलके प्रमाणकी होती है। इसप्रकार पुरुषकी लंबाई एकसौबीस अंगुलकी होती है।

उप्परंका वर्णन सुश्रुत ग्रंथके आधारसे लिया है। चरका चार्यकी रायसे पुरुषकी लंबाई चौऱ्याअस्सी अंगुलकी होती है

रोगों की दशविध परीक्षा

दूष्यदेशबलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।

सत्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥
वा. सू. १२-६७

सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे ।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥
वा. सू. १२-६८

दोष और औषध का निर्णय करनेमें जो मनुष्य दूष्य (धातु-मल) देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, वय, सत्त्व, सात्म्य, और आहार तथा भिन्नभिन्न अवस्थाओंकी अति-सूक्ष्म विवेचना करके चिकित्सामें प्रवृत्त होता है वह कभी भी भूल नहीं करता है।

प्राणाः

अग्निः सोमो वायुः सत्वं रजस्तमः पंचेंद्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः। सु. शा. ४-२

वायु, पित्त, कफ, सत्त्व, रज, तम, नेत्रादि पाँच ज्ञानकी इंद्रियें और पुरुष ये प्राण कहलाते हैं।

प्रकृति

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः ।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्य मे लक्षणं श्रुणु ॥
सु. शा. ४-७३

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः ।
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः ॥
सु. शा. ४-८०

शुक्र और शोणित के संयोगमें जो दोष प्रबल होता है उसीसे पुरुषकी प्रकृति उत्पन्न होती है। कई आचार्य मानते हैं कि मनुष्यके शरीरमें स्थित पंचमहाभूतोंके गुण जिसप्रमाणसें

कम अधिक होते हैं तदनुसार मनुष्यकी प्रकृति बनती है। उनमें वात पित्त और कफ प्रकृति क्रमसे हीन, मध्यम और श्रेष्ठ समझ गयी है।

द्रव्यविज्ञान

सृष्टिमें के समस्तही पदार्थ पांचभौतिक हैं। अपना शरीर ही पंचमहाभूतात्मक है। बाहर के पांचभौतिक द्रव्य लेकर ही शरीर की वृद्धि होती रहती है। ऐसे द्रव्य शरीरमें आवश्यकता से कम और अधिक मात्रामें जाय तो दोष वैषम्य प्राप्त होता है। उस दोषवैषम्य को नष्ट करने के लिये हम बाहरके ही द्रव्य शरीमें लेकर दोषों को साम्यावस्थामें लाते है। किन द्रव्यों की शरीर को आवश्यकता है यह हमें शरीर के चिन्होंसे या लक्षणों से मालूम होता है। और तद नंतर हम आवश्यक द्रव्य शरीरमें लेते हैं। शरीरांतर्गत द्रव्यों में की साम्यासाम्यता या क्षय और वृद्धि बाहरके पंचमहाभूतात्मक द्रव्योंसेही होती है। शरीर यंत्र हमेशा कुछ ना कुछ काम करता रहता है। इसलिये उसमें क्षय होना स्वाभाविक है। उस क्षीणत्व को दूर करना और दूर करते समय शरीर द्रव्योंकी साम्यता रखना यह आयुर्वेदका ध्येय है। इसलिये शरीरस्थ द्रव्योंको सात्म्य और उनके गुणधर्मके समान ऐसे बाह्य द्रव्योंकी शरीर को सहाय्यता देना आवश्यक है। इसलिये शरीरिक और बाह्य द्रव्योंके गुण और कार्योंका परीक्षण करना अत्यंत आवश्यक है। द्रव्यविज्ञान दोषविज्ञान का प्रमुख अंग है। उसीसेही मूल शरीर द्रव्यों (दोषधातुमल) के कार्योंपर प्रकाश पडता है। उस के अतिरिक्त चिकित्सा

शास्त्र में भी द्रव्य विज्ञान का बहुत उपयोग होगा क्योंकि धातु साम्य रखना यह द्रव्य परीक्षणपर निर्भर है।

द्रव्य

द्रव्यलक्षणं तु "क्रियागुणवत् समवायि कारणम्" इति।

जो क्रिया और गुण के समवायि कारण वह द्रव्य कहलाता है। वैद्यक शास्त्र में द्रव्य शब्द का लक्षण वैशेषिकों के लक्षण से पृथक् है। अष्टांग संग्रह में "इह हि द्रव्यं पंचमहाभूतात्मकम्"। याने द्रव्य आकाशादि पंचमहाभूतों से घटित है ऐसा कहा है। चरकाचार्यने जो द्रव्य का लक्षण दिया है वह वैशेषिकों के अनुसार है। उस की राय से "खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः"। याने पंचमहाभूत, आत्मा, काल, मन, दिशा इन सबों को ही द्रव्य कहते हैं। समस्त सृष्टि ही पंचमहाभूतों से घटित होने के कारण चिकित्साधिकरण जो शरीर वह भी पंचमहाभूतों से ही बना हुआ है यह स्पष्ट है। शरीर सृष्टि में की ही एक वस्तु है और शरीर की वृद्धि सृष्टि में के ही पदार्थ लेकर होती रहती है। इस लिये अपना आहार पंचमहाभूतों से घटित होना स्वाभाविक है।

किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥

च. सू. १–६६

द्रव्य तीन प्रकारके हैं। (१) कुछ वातादि दोषों के प्रकोप का शमन करते हैं। (२) कुछ रसादि धातु और वात, पित्त, कफ इन त्रिधातुओं को दूषित करते हैं। (वातादि-

दोष जबतक सप्रमाण रहकर शरीर की क्रियाओं को उचित रीति से चलाते हैं और शरीर को धारण करते हैं तबतक वे त्रिधातु कहलाते हैं) येही वातादि दूषित होने के बाद शरीर में विकृति उत्पन्न करते हैं इसलिये उन को दोष यह उपाधि प्राप्त होती है। (२) कुछ स्वास्थ की रक्षा करते हैं अर्थात् हितकर हैं।

तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जांगमौद्भिदपार्थिवम्।

जंगम (प्राणिज द्रव्य), औद्भिद (वानस्पत्य द्रव्य) और पार्थिव (खनिज) ऐसे पुनः द्रव्य के तीन प्रकार होते हैं।

जंगम द्रव्यः — रक्त, मांस, गोरस, पित्त आदि।

औद्भिद द्रव्यः— पत्तियाँ, वृक्ष, पुष्प, फल और लताएँ आदि।

खनिज द्रव्यः— सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, लोहा, रत्न और चुना आदि।

उपरोक्तमें से जंगम और औद्भिद द्रव्य सेंद्रिय और पार्थिव द्रव्य निरिंद्रिय होते हैं। सेंद्रिय द्रव्य चेतनायुक्त होते हैं। सचे-नत्व याने सजीवत्व। अपना शरीर ही सचेतन होने के कारण अपना आहार सेंद्रिय द्रव्य युक्त होगा तो वह आसानी से आत्म सात होता है। सुवर्णादि निरिंद्रिय द्रव्य शरीर में दवाई के स्वरूप में डालने के समय उनका सात्मीकरण होने के लिये सेंद्रिय द्रव्यों में पीस कर याने उन में सेंद्रियत्व पैदा करके ही उनका उपयोग किया जाता है। अपना आहार ही सेंद्रिय पदार्थों का होना आवश्यक है।

द्रव्यगुण

द्रव्य पंचमहाभूतों से घटित होनेके कारण पूर्वाचार्योंने

उन में स्थित शब्दादि और स्वरादि गुणों के अतिरिक्त अन्य बीस गुणों का विचार द्रव्यों का सूक्ष्म परीक्षण करने की दृष्टि से किया है। जैसे:—

द्रव्यगुण	द्रव्यगुण का कार्य
१ गुरुः—	स्थूलता करनेवाला, मलवृद्धिकर, बलकारक तृप्तीजनक, शरीरपुष्टकर है।
२ लघुः—	शरीरकृशकारक, व्रणरोपण करनेवाला, लेखन करनेवाला, अपतर्पक है।
३ मंदः—	शरीरयात्रा निर्वर्तक और शमन करनेवाला है।
४ तीक्ष्णः—	दाह, पाक और स्राव करनेवाला है।
५ शीतः—	आल्हाद देनेवाला, गति को रोकनेवाला, मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाह इनका नाश करनेवाला है।
६ उष्णः—	पाचन और त्रासन करनेवाला और मूर्च्छा, तृष्णा, स्वेद और दाहकर है।
७ स्निग्धः—	मार्दवप्रदान करनेवाला तथा बलवर्ण बढ़ानेवाला है।
८ रुक्षः—	उपरोक्त कार्योंके विरुद्ध कार्य करनेवाला स्तंभक और कर्कश है।
९ श्लक्ष्ण १० पिच्छिल :—	जीवनीय, बलकारक, रोपण और लेपन करनेवाला और गुरु है।
११ विशद १२ खर :—	क्लेद शोषक, व्रणरोपक, लघु, जीवन और बल नष्ट करनेवाला, तोड़नेवाला और क्षालन करनेवाला है।

पांचभौतिक द्रव्य और उनके

द्रव्य	गुण
पार्थिव द्रव्य	मोटा (स्थूल) मजबूत, ठोस, मन्द, स्थिर, भारी (गुरु), कठिन और गंध ।
आप्य द्रव्य	शीतल, स्तिमित, (गीला या जड़) चिकना, मंद, भारी, सर, सान्द्र, (गाढ़ा) मृदु, पिच्छिल, अधिक रसयुक्त, ।
तैजस द्रव्य	गरम, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खर, स्पर्श, हलका, विशद और रूप-गुणकी अधिकतायुक्त ।
वायवीय द्रव्य	सूक्ष्म, रूक्ष, खुरदरा, शीत, हलका, विशद, स्पर्शगुणयुक्त ।
आकाशीय	चिकना, सूक्ष्म, स्रोतोनुसारी, कोमल व्यवायिं, विशद, विविक्त शब्दबाहुल्ययुक्त ।

गुण, रस और कार्य

रस	कार्य
किंचित् कसैल परंतु प्रायः मीठा।	स्थिरता, शक्ति, गुरुता, काठिन्य और वृद्धि करनेवाला होता है। विशेषकरके उसका स्वभाव नीचे की ओर गमन करनेका है।
इषत् कषाय, आम्ल, लवण, मधुर।	शरीर में स्नेहन, तृप्ति, आर्द्रता बंधन और विस्रावण करता है।
किंचित् आम्ल, लवण, कटु।	दहन, पचन, विदारण, तापन प्रकाशन, कांति और वर्ण करनेवाला होता है।
किंचित् तिक्त, कषाय	वैशद्य, हलकापन, अवृष्यत्व रौक्ष्य और विचारण (मन में अनेक कल्पना करना) ये कार्य करता है।
अप्रकट (अव्यक्त)	मृदुता, सच्छिद्रता और लघुता करनेवाला है।

१३ सांद्रः— स्थूल और उपचित करनेवाला, जोड़नेवाला और प्रसादन करनेवाला है।

१४ द्रवः— प्रक्लेदन और विलोडन करनेवाला है।

१५ मृदुः— तीक्ष्ण गुण के विपरीत है।

१६ कठिनः— कठिनता और दृढता देनेवाला है।

१७ स्थिरः— स्थिरता और धारण करनेवाला है।

१८ सरः— अनुलोमन और प्रेरण करनेवाला है।

१९ सूक्ष्मः— स्रोतोंगामी और विवरण करनेवाला है।

२० स्थूलः— स्रोतोरोध और संवरण करनेवाला है।

सचेतन शरीर पर द्रव्योंके उपरोक्त में के कर्म समुच्चय से उनमें स्थित होनेवाले गुणों का और उनके घटकों का ज्ञान प्राप्त होता है। उपरोक्त बीस गुणोंमेंसे सुश्रुताचार्यने शीत–उष्ण, स्निग्ध–रुक्ष, मृदु–तीक्ष्ण, और पिच्छिल–विशद ऐसे आठ गुण प्रथक् करके उनको वीर्य संज्ञा दी है क्योंकि वे श्रेष्ठ और हमेशा व्यवहार में आनेवाले हैं।

आठ गुण और उसको ग्रहण करनेवाली ज्ञानेंद्रियें

मृदु, शीत, उष्ण स्पर्शग्राह्य हैं। पिच्छिल और विशद स्पर्श और नेत्र ग्राह्य हैं। स्निग्ध–रुक्ष नेत्रग्राह्य हैं तथा तीक्ष्ण रसनेंद्रियग्राह्य है।

द्रव्यविज्ञान के संबंध में सामान्य विवेचन

आयुर्वेद शास्त्र में औषधी द्रव्यों के गुण और कर्म का विवेचन रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव तथा विचित्रप्रत्ययारब्धत्व इन तत्वों के सहारे किया है। यह आयुर्वेद शास्त्र की विशेषता है। एवं द्रव्यों का विचार उन में स्थित हुअे पंचमहाभूतादिकों के आधारानुसार किया है। चरकाचार्यनें

द्रव्यों के सेंद्रिय और निरेंद्रिय ऐसे प्रकार किये हैं। द्रव्योंमे स्थित पंचमहाभूतों का अभ्यास तत्तद् द्रव्योंमें स्थित गुणकर्मसे किया जाता है। इस विचारप्रणालीनुसार सृष्टिमें स्थित सब द्रव्यों का औषधी के समान हम उपयोग कर सकेंगे। उदाः—पुष्टिकारक और सामर्थ्य देनेवाले औषधीद्रव्य सुवर्ण, लोहा तथा वंशलोचन आदि पृथ्वीभूयिष्ठ और कृशता करनेवाले द्रव्य वायुभूयिष्ठ होते हैं। स्निग्धद्रव्य-पृथ्वीभूयिष्ठ तो रुक्ष द्रव्य वायुभूयिष्ठ होते हैं।

रस

दोष साम्य की रक्षा करने के लिये और दोषवैषम्य नष्ट करने के लिये शरीर हमेशा योग्य रसों की अभिलाषा करता है। उसीही कारण से आयुर्वेद में रसको प्राधान्य दिया है और वनौषधी, खनिज और प्राणिज द्रव्यों का उनके रसके अनुसार विभजन किया है। तथा रसों का आधार लेकर द्रव्यों का गुणकर्म निश्चित करने के तत्व को अधिक पसंद किया है। रस से गुणकर्म का ज्ञान प्राप्त होने के कारण आयुर्वेदीय तत्त्वों के अनुसार द्रव्यों का अभ्यास हम आसानी से कर सकते हैं। क्योंकि एकबार द्रव्योंके रसों का ज्ञान होने के बाद द्रव्यों के केवल विशेष गुण कर्म को जानना बाकी रहता है।

विपाक

रस के आधार से हम सब द्रव्यों का परीक्षण कर सकते हैं। तोभी कुछ द्रव्यों के रसों का अन्ननलिका में स्थित पाचकाग्निके संस्कार से रसांतर (रसों मे बदल) होता है। उसी के कारण द्रव्यों के गुणधर्ममेंभी बदल होता है। अतएव इस

रसांतर का याने बदले हुअे रसों का विचार करना प्राप्त होता है। विपाक याने पाचकाग्नि का द्रव्योंपर परिणाम होने के बाद उत्पन्न हुआ रस।

अन्ननलिकामें रसनेंद्रिय का अस्तित्व न होने के कारण इन रसों का याने द्रव्योंके विपाकों का अनुमान उन द्रव्योंके शरीरपर होनेवाले गुणकर्मों के द्वारा हमें समझता हैं। इसलिये रसनेंद्रिय से जिन द्रव्यों के रसों का ज्ञान हमें होता नहीं ऐसे द्रव्योंके रस और विपाकों का ज्ञान उनके शरीरपर होनेवाले गुणकर्मों के द्वाराही प्राप्त होता है।

वीर्य

द्रव्यों के रस और विपाकसे उनके सामान्य गुण कर्मों का ज्ञान होता है। किंतु द्रव्यों के कुछ गुण विशेष शक्तिशाली होते हैं और उन्हीं शक्तिशाली गुणों से द्रव्यों का शरीर पर होनेवाला कार्य दीर्घ काल तक रहता है। द्रव्यों में स्थित विशेष गुणों का उल्लेख वीर्य संज्ञासे किया जाता है " येन या क्रियते क्रिया "। कुछ आचार्यों की राय से वीर्य उष्ण और शीत याने दो प्रकारका है। कुछ आचार्य वीर्य के गुरु लघु आदि आठ प्रकार मानते हैं। मौक्तिक का रस मधुर तथा विपाकही मधुर होते हुअे भी उसका विशेष कार्यकारी गुण शीत है इसलिये उसे शीतवीर्य द्रव्य कहते हैं।

प्रभाव

रस, वीर्य, विपाक के सामान्य नियमों के अनुसार जो कार्य होता है उसको विरोध न करते हुअे द्रव्य जो विशेष कार्य दिखाता है वह उस में स्थित प्रभाव के कारण। उदा:—दूध रस, वीर्य, विपाक के सभी नियमों का पालन कर के अलावा

विरेचन का विशेष कार्य करता है। हम कह नहीं सकते कि यह कार्य कैसा होता है इसलिये हम बताते हैं कि विरेचनका कार्य दूध के प्रभावसे होता है। दूध को समानप्रत्ययारब्ध द्रव्य कहते हैं क्यों कि उसका विरेचन का कार्य उसके रस-वीर्य विपाक के विरुद्ध नहीं है।

कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं कि जिनका शरीरपर होनेवाला असर उनके रस, वीर्य, विपाक के अनुसार नहीं होता है तो विरुद्ध होता है। उदा:— हरड़ा कषाय रसात्मक होत हुअ भी स्तंभन के बदले सारक कार्य करता है; गिलोय तिक्त हो कर भी वातप्रकोप के बदले वात शमन का कार्य करती है। अतएव प्रभावसे होनेवाला कार्य समान और विचित्र प्रत्यया-रब्ध इन दोनों प्रकार के द्रव्यों के द्वारा होता है। किसी भी द्रव्य की औषधी उपयुक्तता उसके प्रत्यक्ष उपयोग से ही निश्चित होती है।

"रसनार्थो रसः" याने जिव्हासे व्यक्त होनेवाला रस इतनाही मर्यादित अर्थ शास्त्रकारों को मान्य नहीं है। उनकी राय से द्रव्य के गुणकर्मानुसार रस निश्चित होता है। शरीर घटकोंपर होनेवाले द्रव्यों के प्रारंभ के असर उनके रस के द्वारा होते हैं। "रसो निपाते द्रव्याणाम्"। द्रव्यकी शरीरपर तुरंत होनेवाली क्रिया रससे होती है। यह कार्य जिव्हापर ही होता है ऐसा नहीं तो शरीर के अभ्यंतर भागोंपर ही होता है। उदा:— कटु द्रव्य मुँह में जाते ही पेटमें पित्तरस अधिक मात्रा में स्रवता है; आम्ल द्रव्य से पित्त की आम्लता बढ़ती है। द्रव्य शरीर में जाने के बाद उसका पचन होता है तथा द्रव्य का प्रपाक और विपाक होकर उस के गुण कर्म की

प्रचीति होती है। यह कार्य विपाक से होता है । विपाक की निर्मिती के बाद द्रव्यमें के सूक्ष्म कार्यकारी भाग रसरक्तादि धातु ओंमें मिल जाते हैं। और अपने अपने द्रव्य प्रभावानुसार अलग अलग अवयव समूहों में कार्य करते हैं। यह कार्य वीर्यका है। प्रभावज कार्य याने द्रव्य में स्थित विशिष्ट कार्य । पारदसे उपदंश दुरुस्त होना, कुनीन से शीतपूर्व ज्वर ठीक होना ये प्रभावज कार्यों के उदाहरण हैं। बहुतसे लोगो से पुछताछ करके तथा अनुभव लेकरही प्रभावज कार्य निश्चित करना पडता है क्यों कि "प्रभावोऽचिन्त्य एव च !"

रस

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ।
षड्द्रव्यसाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः ॥

वा. सू. १–१४

छः रस हैं; यथा–स्वादु (मधुर), आम्ल, लवण, तिक्त' कटु (उषण) और कषाय । ये छः रस द्रव्य में आश्रित हैं और पूर्वक्रम से अधिक बल देनेवाले हैं।

तत्राद्याः मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥

वा. सू. १–१५

इन में पहले तीन रस– अर्थात् मधुर, आम्ल, लवण– ये वायु का शमन करते हैं और तिक्त, कटु, कषाय ये तीन कफका शमन करते हैं। कषाय, तिक्त, मधुर ये तीन रस पित्त का शमन करते हैं । इन से बाकी रहे रस वात, पित्त और कफ को बढ़ाते हैं; अर्थात् तिक्त, कटु, कषाय– वायु को बढ़ाते हैं;

मधुर, आम्ल, लवण कफ को तथा आम्ल, लवण, कटु पित्त को बढाते हैं।

रस और पंचमहाभूत

रसका नाम	पंचमहाभूत
मधुर रस—(भू—ज)	—पृथ्वी और जल भूयिष्ठ।
आम्लरस—(भू—ते)	—पृथ्वी और तेज भूयिष्ठ।
लवण रस—(ज—ते)	—जल और तेज भूयिष्ठ।
तिक्त रस—(ख—वा)	—आकाश और वायु भूयिष्ठ।
कटु रस—(ते—वा)	—तेज और वायु भूयिष्ठ।
कषाय रस—(भू—वा ,	—पृथ्वी और वायु भूयिष्ठ।

विपाक

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसांतरम्।
रसानां परिणामांते स विपाक इति स्मृतः॥

वा. सू. ९—२०

जाठराग्नि के संयोग से रसों की परिणति के अन्त समय में जो अन्य रस उत्पन्न होता है उसको विपाक कहते हैं (विशेष रूप में पाक होना विपाक है)।

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः।
स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥

वा. सू. ९—२१

रसैरसौ तुल्यफलः।

वा. सू. ९—२२

विपाक तीन प्रकार क होते हैं। मधुर और लवण का

मधुर विपाक; आम्लरस का आम्ल विपाक होता है। तिक्त, कटु, कषाय रस का विपाक प्रायः कटु होता है।

यह तीन प्रकार का विपाक (मधुर, आम्ल, कटु) इन तीन रसों के समान फल देनेवाला है।

वीर्य

चरकस्त्वाह वीर्यं तद्येन या क्रियते क्रिया।
नाऽवीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता हि सा॥

वा. सू. ९-१३

चरकाचार्य का कहना है कि जिस से जो क्रिया की जाती है वह वीर्य है। वीर्यरहित कोई कार्य नहीं होता क्योंकि सब क्रियाएँ वीर्यसेही होती हैं।

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।

उष्णशीत भेद से वीर्य दो प्रकार के हैं। जिस में उष्ण गुण का प्राबल्य रहता है वह उष्णवीर्य कहलाता है। और जिस में शीत गुण का प्राबल्य है वह शीतवीर्य कहलाता है।

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु॥
लघु रूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेव मतमष्टधा।

वा. सू. ९-१२

गुर्वादिष्वेववीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते॥
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु।

वा. सू. ९-१४

व्यवहाराय मुख्यत्वाद्बहग्रग्रहणादपि॥

वा. सू. ९-१५

कई आचार्य वीर्य को—गुरु, स्निग्ध, हिम, मृदु, लघु, रुक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण—आठ प्रकार का मानते हैं। गरु

आदि की जो वीर्य संज्ञा की गयी है वह ठीक ही अर्थ में है। क्योंकि वीर्य संपूर्ण गुणों के मध्य में चिरस्थायी रहता है। वीर्य में उत्कृष्ट शक्ति रहती है। लोग और शास्त्र में मुख्य रूप से वीर्य का व्यवहार होने से तथा बहुत गुणों के गिनने में वीर्य को प्रथम स्थान मिलने से इन में वीर्य शब्द सार्थक है।

जो लोग वीर्य दोनही हैं ऐसा मानते हैं वे कहते हैं कि उष्ण और शीत गुणों में उपरोक्त आठ गुणों का सामान्यतः समावेश हो सकता है।

उष्णवीर्य	शीतवीर्य
उष्ण	शीत
तीक्ष्ण	मृदु
रूक्ष	स्निग्ध
लघु	भारी (गुरु)

प्रभाव

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्।

वा. सू. ९-२६

दो द्रव्यों में रस आदि की समानता होनेपर भी जो विशेष कर्म दिखता है वह प्रभाव है।

दंतीरसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी॥
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

वा. सू. ९-२७

दन्ती (जमालगोटा) रस, वीर्य, और विपाक में चित्रक के समान होनेपर भी विरेचक होती है। इस प्रकार मुलेठी और द्राक्षा रस, वीर्य, विपाक में समान होनेपर भी द्राक्षा विरेचक होती है किंतु मुलेठी नहीं होती। घृत और दूध रस,

वीर्य, विपाक में समान होते हुअे भी घृत अग्निदीपक है तो दूध अग्निदीपक नहीं।

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटं।
अधोगामी च भूयिष्ठं भूमितोयगुणाधिकम्॥
वा. सू. ९-११

अग्नि और वायु की प्रधानतावाले द्रव्य प्रायः कर के उर्ध्वगामी अर्थात् वमन करानेवाले होते हैं। जल और पृथ्वि के गुण की अधिकतावाले द्रव्य प्रायः कर के अधोगामी अर्थात् विरेचन करानेवाले होते हैं। किसीही द्रव्य का उर्ध्वगामी और अधोगामी कार्य प्रभावसेही होता है।

जिन महाभूतोंद्वारा पदार्थोंके घटकावयवोंका प्रादुर्भाव होता है उनसे पृथक् महाभूतोंसे जब रसवीर्यादिकोंकी उत्पत्ति होती है तब वे पदार्थ रसवीर्यादिकोंके अनुसार काम नहीं करते हैं। इसलिये उन पदार्थोंको विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्य कहते हैं।

जिन पदार्थोंमेंके द्रव्य और उनके रसादिकोंकी उत्पत्ति समान महाभूतोंके द्वारा होती है उन्हे समानप्रत्ययारब्धद्रव्य कहते हैं।

मधुर और भारी	गेहूँ—वातघ्न जौ—वातघ्न नहीं	ये समस्त द्रव्यप्रभावसे होते हैं
मधुर और भारी	मछलियाँ—उष्णवीर्य दूध —शीतवीर्य	
मधुर और भारी	सिंहमांस—विपाककटु वराहमांस—विपाक मधुर	

द्रव्यकार्यों का सामान्य सूत्र

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः॥

चीज़की समानता हमेशा उसकी वृद्धिके लिये कारण होती है। वस्तुकी भिन्नता उसके क्षयका कारण होती है। समानतासे वृद्धि होना और भिन्नतासे क्षय होना वे क्रियाएँ तभी संभव है जब इनमें कोई विरोधी कारण नहीं होता है। जस रक्तसे रक्त बढ़ता है क्योंकि उसमें विरोधी कारण उपलब्ध नहीं है। इसके विरुद्ध आंवले के आम्लत्वसे होना चाहिये कि पित्त वृद्धि हो किंतु आंवलेमेंका शिशिरत्व इसविरोधी कारणके अस्तित्वसे पित्तवृद्धि नहीं होती है। श्रीखंडके स्निग्धत्वके कारण वायु का शमन होता है। इसके विरुद्ध अधजमा दही स्निग्ध होते हुअे भी अपने प्रभावविरोधी कारणसे वायुका शमन नहीं कर सकता है।

द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठम्।

रसादिकी अपेक्षा द्रव्यही श्रेष्ठ और कार्यक्षम है क्योंकि

(१) द्रव्यको अस्तित्व है। साक्षात्‌रसादि रूपमें दिखाई नहीं देते हैं।

(२) कुछ कालतक क्यों न हो द्रव्य नित्य रहता है वैसे रसादि नहीं टिकते हैं।

(३) द्रव्य अपनी पार्थिवादि जातिका त्याग नहीं करता है। याने पार्थिवादि द्रव्य कभी भी तैजस् या वायवीय नहीं बन सकता।

(४) द्रव्यका ग्रहण पाँचोंही इंद्रियोंद्वारा होता है वैसी बात रसादिओंके बारेमें नहीं है।

(५) द्रव्य आश्रयस्थान है तो रसादि और गुण द्रव्यके आश्रयमें रहनेवाले आश्रयी हैं।

(६) आरंभसामर्थ्य द्रव्योंमेंही है जैसे हम कहते हैं कि

विदारीगणमें की औषधी लाइये। बताते नहीं की रसवीर्यादि गुण लाइये।

(७) शास्त्राधार।

(८) द्रव्योंकी अवस्थाके अनुसार रसादि बदल जाते हैं। अगर द्रव्य पुराना हो तो उसमें के रसादि ही पुराने होते हैं।

(९) द्रव्यमें एकदेशसाध्यत्व है याने द्रव्यके किसी एक भागसे ही रोग हटता है जैसे थोहरके दूधसे ही कुछ रोग हटते हैं।

रसास्तु प्रधानम्

कोई आचार्य कहते हैं कि रसही श्रेष्ठ है क्योंकि

(१) आहार रसपर और प्राण आहारपर निर्भर है।

(२) आगमप्रमाणः— वेदोंमें बताया है इसलिये।

(३) अनुमानसे रसको श्रेष्ठत्व प्राप्त है। क्योंकि फलाना द्रव्य फलाना दोषनाशक है यह रससेही निश्चित होता है।

वीर्यं प्रधानम्।

किसी आचार्योंकी रायसे वीर्य श्रेष्ठ है क्योंकि

(१) औषधियोंके कार्य जैसे वमन, विरेचन, संग्रहण, बृहणादि कार्य औषधियोंकें वीर्यश्रेष्ठत्वसे होते हैं।

संपूर्ण जगत् ही सोम और अग्नि इन दोनों वीर्योंसे युक्त होने के कारण वीर्य दोनही–उष्ण और शीत माने गये हैं (अन्य विवेचन वीर्य प्रकरणमें देखिये)

विपाकः प्रधानम्।

द्रव्यका विपाक श्रेष्ठ है क्योंकि पदार्थ खानेके बाद उसका योग्य या अयोग्य पचन होता है इसलिये खादित पदार्थोंका योग्य पचन हो तोही वे गुणकारी होते हैं।

अयोग्य रीतिसे पाचित पदार्थ अवगुण उत्पन्न करते हैं। कुछ रसोंकी संख्याके इतनेही याने छः विपाक मानते हैं तो कुछ मधुर, आम्ल और कटु ऐसे तीनही विपाक मानते हैं। यदि दोष तीनही माने गये तो उचित है कि विपाकही तीन माने जाय। कुछ आचार्य विपाक दोनही मानते हैं जैसे मधुर विपाक भारी और कटु विपाक लघु। पृथिव्यादिमेंही गुरुत्व और लघुत्व गुणोंके साधर्म्यसे दो भाग होते हैं। पृथ्वी और आप् ये भारी तत्व हैं तो तेज, वायु और आकाश ये लघु हैं। इसलिये मधुर और कटु ऐसे दो विपाक माननाही उचित होगा।

चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥

सु. सू. ४०–१३

तद् द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येण सेवितम् ॥
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥

सु. सू. ४०–१४

जोभी द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक संबंधी अलग मतप्रदर्शन हुअे हैं तोभी तज्ञ किसी एकको ही प्राधान्य न देते हुअे चारों ही प्रकारको सामूहिक दृष्टिसे ग्रहण करते हैं क्योंकि दोषोंका नाश द्रव्यद्वारा कभी उसके पाँचभौतिक गुणोंसे, कभी रससे, कभी वीर्योंसे तो कभी विपाकसे होता है। किंतु गुण, रस, विपाक और वीर्य ये सब द्रव्याश्रयी होनेके कारण द्रव्यही श्रेष्ठ मानना आवश्यक है।

विकृति-विज्ञान

विकृतिविज्ञान
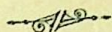
दोषधातुमलों के प्राकृतावस्था में के स्वरूप, परस्पर संबंध और उन से शरीर में होनेवाले प्राकृत व्यापार इन के अभ्यास से शारीर क्रिया विज्ञानपर प्रकाश डाला जाता है। किंतु इनका संपूर्ण ज्ञान होने के लिये विकृत दोषधातुमल, उनके शरीरपर होनेवाले असर, तथा उनकी चिकित्सा आदि विषयों का विचार बहुत ही उपयुक्त होने के कारण विकृति विज्ञान और चिकित्सा की सामान्य कल्पना का समावेश दोषधातुमल विज्ञान में करना आवश्यक होता है।

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।

रोग धातुमल वैषम्य से होते हैं। और धातुमल दोष वैषम्य से विषम बन जाते हैं।

दोषवैषम्य, दोषवृद्धि या क्षय से होता है। उनमें से हर एक के तीन प्रकार होते हैं। (एक, द्वि और त्रिदोषज)

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिंगं दर्शयंति यथा बलम्।
क्षीणा जहति लिंगं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥
च. सू. १७-६१

दोष जिस मात्रा में बढ़ जाते हैं इसी मात्रा में विकृत लक्षण हो जाते हैं। उन के क्षीण होने से उनके केवल स्वाभाविक लक्षण नष्ट हो जाते हैं और वे जब साम्यावस्था में हो जाते हैं तब उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ की जाती हैं।

साक्षात् विकृति उत्पन्न करने की शक्ति केवल बढ़े हुअे

दाषों में ही रहती है। क्षीण हुअे दोषोंमें केवल उनकी साम्यावस्था में की स्वाभाविक क्रियाएँ नष्ट होती हैं। दोष बढ़कर जब अपना स्थान छोडकर जाने लगते हैं तब वे रसादि दूष्य धातुओं को दूषित कर के ज्वरादि रोग निर्माण करते हैं। क्षीण हुअे दोषों में ऐसी शक्ति नहीं रहती है। वे दूषण का कार्य कर नहीं सकते क्योंकि उनकी स्वाभाविक शक्ति भी कम हो जाती है।

वातादि दोषों का परस्पर संसर्ग और उनकी मात्रा की कम अधिकता से कुल मिलकर ६२ प्रकार रोगों के बताये गये हैं। लेकिन ऐसे नहीं होना चाहिये क्यों कि वातादि दोषों के गुणधर्म परस्पर विरोधी है। इसलिये उन्हें एक दूसरों को नष्ट करना चाहिये। किंतु यह कहना उचित नहीं है।

क्यौं कि पदार्थों का विरोध साक्षात् उन के कार्यों पर से निश्चित मानना चाहिये। सामान्यतः हम पानी और अग्नि में विरोध देखते हैं और वह विरोध हम सर्वत्र मान्य करें तो पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के प्रारंभ में "अग्नेरापः" इस वचन के अनुसार अग्नि से पानी की उत्पत्ति असंभव मालुम होगी तथा पानी और अग्नि के द्वारा आम्ल रस ही पैदा नहीं होगा। किंतु उन की निर्मिति आँखों को दिखाई देती है। इस से स्पष्ट है कि दोषों के परस्पर संयोग में कोई बाधा नहीं आती है। दोष स्वरूपतः एक दूसरों को विरोधी नहीं है तो उन की प्रभाव नाम की जो अचिन्त्य शक्ति है वह परस्पर विरोधी है। जैसेः– आंवला के आम्लत्व, माधुर्य, शैत्य, कटुत्व, तिक्तता ये गुण है और आंवला अपने अलग अलग गुणों के द्वारा तीनों दोषों का हरण करता है। आम्लत्व वायुको,

माधुर्य शैत्यपित्त को, और कटुत्व और तिक्तत्व कफको दूर करता है। ये क्रियाएँ होने का कारण आंवला का प्रभाव है। इसी कारणसे परस्परविरुद्ध गुणयुक्त दोष अविरोध से शरीरमें स्थित रहते हैं।

विरुद्धैरपि नत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् ।
दोषाः सहजसात्म्यत्वात् घोरं विषमहीनिव ॥
च. चि. अ. २६-२८८

जिस तरह सर्पके मुहमें जहर हमेशा रहते हुअे भी स्वाभाविक सात्म्यसे उसको जहरकी बाधा नहीं होती उसी तरह तीनही दोष मनुष्यके शरीरमें रहते हुअे भी एक दूसरेको बाधा नहीं करते हैं। इसलिये दोषोंके संसर्ग और सन्निपातमें कोई भी विरोध नहीं आता है।

रोग

निज	आगंतु

निज रोगोंमें दोषवैषम्य प्रारंभमें और स्थानिक व्यथा बादमें होती है याने दोनोंही स्थानोंपर दोष वैषम्यकी आवश्यकता है। आगंतुमें " व्यथा-प्राकृत दोषके कार्योंमें बिगाड़-दोष वैषम्य-रोग " यह क्रम रहता है।

निजरोगमें " दोषवैषम्य (स्वस्थानमें चय) → प्रकोप → प्रसर (दुष्ट स्थानोंके प्रत विकृत दोषोंका पहुँचना) → स्थानसंश्रय → रोगके लक्षणोंकी व्यक्ति-रोगमें भेदनिर्मिति " यह क्रम रहता है। इन्हीं छः अवस्थाओंका अभ्यास " संप्राप्ति " कहलाता है।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषे वृद्धिहेतुषु ।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता ॥
वा. सू. १२-२२

लिंगानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसंभवः ॥
वा. सू. १२-२३

स्वस्थानमें होनेवाली दोषकी वृद्धिको 'चय' कहते हैं। दोषोंका चय होनेके बाद उनकी वृद्धिको सहायभूत होनेवाले द्रव्योंके प्रति अनिच्छा और उनके विरुद्ध गुणात्मक द्रव्य संबंधी अभिलाषा उत्पन्न होती हैं। वृद्ध हुअे दोष स्वस्थान छोडकर चारों ओर फैलने लगते हैं। इस अवस्थाको 'प्रकोप' कहते हैं। प्रकुपित दोषोंसे लक्षणोंकी निर्मिति होकर अस्वस्थता प्राप्त होती है और रोगकी प्रारंभावस्था शुरू होती है। प्रकुपित हुअे दोष अधिकतर बढकर अपने अपने स्थानोंसे बाहर निकलते हैं। इस अवस्थाको 'प्रसर' कहते हैं। समस्त दोषोंमेंसे वायु गतिमान और रजोगुणात्मक होनेके कारण सब दोषोंके प्रसरको कारणभूत होता है।

प्रसर होनेवाले दोष जहाँ स्थान वैगुण्य हुआ है ऐसे स्थानोंपर रुक जाते हैं और उनका आश्रय करते हैं। इसीको ही 'स्थानसंश्रय' कहते हैं। इस अवस्थामें रोगोंके पूर्वलक्षण प्रतीत होते हैं। पश्चात् रोग 'व्यक्त' होते हैं याने रोगोंके स्पष्ट लक्षण दिखाई देते हैं और उनमें वातादि दोषोंसे 'भेद' उत्पन्न होते हैं।

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेत् भिषक् ॥
सु. सू. २१-३६

संप्राप्ति के अवस्थाएँ और उनमें होनेवाले वातादिकों के लक्षण

वात	पित्त	कफ	चिकित्साका काल
चयः—कोष्ठ में भारीपन ।	पीलापन	भारीपन, आलस्य	काल १ ला
प्रकोपः—पेट में व्यथा और वायु का संचार ।	प्यास, दाह, अग्निनाश ।	अन्नद्वेष, जी मचलना ।	काल २ रा
प्रसरः—वायु का विमार्ग गमन और अफारा ।	दाह, चुसनेकीसी पीडा, धूमकीसी डकार ।	अरुचि, अपरिपाक, थकावट और वमन	काल ३ रा
स्थानसंश्रयः—भिन्न भिन्न स्थानों में वायु के अनुसार होनेवाले पूर्व लक्षण ।	भिन्न भिन्न स्थानों में पित्त दोष के अनुसार होनेवाले पूर्व लक्षण ।	भिन्न भिन्न स्थानों में कफ दोष के अनुसार होनेवाले पूर्व लक्षण ।	काल ४ था
व्यक्तिः—भिन्न भिन्न स्थानों के अनुसार रोगों में होनेवाले स्पष्ट लक्षण ।	—	—	काल ५ वाँ
भेदः—उपरनिर्दिष्ट रोगों में वायुकी अधिकता से खास होनेवाले स्पष्ट लक्षण ।	उपरनिर्दिष्ट रोगों में पित्त की अधिकता से खास होनेवाले स्पष्ट लक्षण ।	उपरनिर्दिष्ट रोगों में कफ की अधिकता से खास होनेवाले स्पष्ट लक्षण ।	काल ६ ठाँ

दोषोंकी विकृतिके हेतु { वृद्धि / क्षय

दोषोंके चय, प्रकोप, और प्रशम उनके हेतुओंके संबंधमें सामान्य सूत्र आगे दिये हैं।

(१) वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्।

वा. सू. १-८

अवस्था, दिन, रात और भोजन इनके अंतमें वायु और मध्यमें पित्त तथा आदिमें कफ बढ़ता है।

वयका अर्थ परिमाण अर्थात् आयु है। आयुकी वृद्धावस्थामें वायुकी अधिकता रहती है। युवावस्थामें पित्त और बाल्यावस्थामें कफकी अधिकता रहती है। इसी प्रकार दिनके अंतभागमें (गोधूलिक कालमें) वायुकी, मध्यान्हमें पित्तकी और प्रातःकालमें कफकी अधिकता रहती है। रात्रीके पश्चिम कालमें वायुकी, मध्यरात्रमें पित्तकी और प्रारंभ कालमें कफकी प्रचुरता रहती है। भोजनके जीर्ण हो जानेपर वायुकी, भोजनकी पच्यमानावस्थामें पित्तकी और भोजनके खानेपश्चात् तुरन्त कफकी अधिकता रहती है।

(२) उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वंति संचयम्।
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः॥

वा. सू. १२-१९

वायु आदिका संचय, कोप तथा शमन

उष्णिमासे मिश्रित रूक्ष आदि गुण वायुका संचय करते हैं। यह वायु शीतसे बढ़ती है। और उष्णिमासे युक्त स्निग्ध आदि गुणसे शान्त होती है।

(३) शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते
उष्णेन कोपं मंदाद्याः शमं शीतोपसंहिताः ॥
वा. सू. १२–२०

शीतसे युक्त तीक्ष्ण आदिगुण पित्तका संचय करते हैं। उष्णिमासे पित्त कुपित होता है; शीतसे मिले मन्द आदिगुण पित्तका शमन करते हैं।

(४) शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम् ॥
उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम् ।
वा. सू. १२–२१

शीतसे युक्त स्निग्ध आदिगुण कफका संचय करते हैं यह कफ उष्णिमासे कुपित होता है। उष्णिमासे युक्त रूक्ष आदि-गुण कफका शमन करते हैं।

(५) चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ।
वा. सू. १२–२४

ग्रीष्म, वर्षा, शरद् इन तीन ऋतुओंमें वायुका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशम होता है। वर्षा, शरद् और हेमंतमें पित्तका क्रमशः संचय प्रकोप और शमन होता है। शिशिर, वसंत और ग्रीष्ममें कफका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशम होता है।

(६) कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्याऽतिमात्रकः ।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥
वा. सू. १–१९

काल, अर्थ और कर्म इनका हीनयोग मिथ्यायोग और

अतियोग–रोगका कारण है। काल अर्थ और कर्म इनका सम्यग् योग–आरोग्यका कारण है।

कालका अर्थ परिमाण है। वह हर समय बदलता रहता है। यही काल शीत, उष्ण, वर्षा, भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें कालका अपने स्वभावसे कम होना हीन योग है। कालका स्वभावसे विपरीत होना मिथ्या योग, और स्वभावसे अधिक होना अतियोग है। अर्थका अभिप्राय शब्दादि विषयोंसे है। इनमें इंद्रियोंका अपने विषयों के साथ थोड़ा संबंध होना-हीन योग, अनुचित संबंध होना-मिथ्यायोग और अधिक संबंध होना अतियोग है। चेष्टाका अभिप्राय कर्मसे है। यथा-कर्मोंका कम करना हीन योग, अनुचित रूपमें करना मिथ्यायोग, अधिक करना अतियोग है। ये तीनों रोग के कारण हैं। इस सब के पीछे "प्रज्ञापराध" एक कारण है जिसके कारणसे ही मनुष्य हीन, मिथ्या और अतियोग करता है।

(७) तेषां कोपे तु कारणम् ॥

वा. सू. १२–३४

अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्मच दुष्कृतम्।
हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा ॥

वा. सू. १२–३५

अनुचित शब्दादि विषयोंके साथ आँख आदि इंद्रियोंका संबंध होना; काल-शीतोष्णवर्षालक्षण; ऐहिक या पूर्व जन्मकृत अशुभ कर्म; ये तीनों दोषोंके प्रकोपमें कारण है। इनमें प्रत्येक कारण हीन, अति और मिथ्या योगसे तीन प्रकारका है।

दोष प्रकोपके तीन प्रमुख कारण हैं।

(१) शब्दादि विषयोंका इंद्रियोंसे दुष्ट योग (२) दुष्ट ऋतु (३) दुष्ट क्रिया ।

असात्म्य शब्दादि विषयोंका इंद्रियोंसे दुष्ट योग ।

(अ) चक्षुरसात्म्य इंद्रियार्थ संयोगः—

(१) दृष्टिका अतियोगः— सतेज चीज़ोंकी ओर टकटकी लगाकर देखना ।

(२) दृष्टिका हीनयोगः— कोईभी चीज़ कदापि न देखना ।

(३) दृष्टिका मिथ्यायोगः—बिलकुल नज़दीककी, अतिदूरपरकी, अति बीभत्स और कुरूप चीज़ें देखना ।

(ब) कर्णासात्म्य इंद्रियार्थ संयोग

(१) कर्णका अतियोगः— बादल या नगाडेंकी गर्जना या अतिजोर का भाषण सुनना ।

(२) कर्णका हीनयोगः— बिलकुल न सुनना ।

(३) कर्णका मिथ्यायोगः— कर्कश, भयानक, नाशसूचक आवाज़ सुनना ।

(क) घ्राणेंद्रियासात्म्य इंद्रियार्थ संयोगः—

(१) घ्राणेद्रियका अतियोगः— उग्र, तीक्ष्ण और बेसुध करनेवाली गंध लेना ।

(२) घ्राणेंद्रियका हीनयोगः— बिलकुलही कदापि गंध न लेना ।

(३) घ्राणेंद्रियका मिथ्यायोगः— सड़ी हुई घृणयुक्त, दुर्गंधपूर्ण चीजोंकी गंध लेना ।

(ड) रसनेंद्रियासात्म्य इंद्रियार्थ संयोगः—

(१) रसनेंद्रियका अतियोगः—षड्रसोंका अति-उपयोग।

(२) रसनेंद्रियका हीनयोगः–कुछभी न चखना।

(३) रसनेंद्रियका मिथ्यायोगः— परस्परविरुद्ध गुणोंका अन्न साथ खाना।

(इ) स्पर्शनेंद्रियासात्म्य इंद्रियार्थ संयोगः—

(१) स्पर्शनेंद्रियका अतियोगः — अति उष्ण, अति शीतल पदार्थ या वायुका सेवन।

(२) स्पर्शनेंद्रियका हीनयोगः— किसीभी चीज़ का स्पर्श न होने देना।

(३) स्पर्शनेंद्रियका मिथ्यायोगः — अशुद्ध और अमंगल पदार्थोंका स्पर्श।

दुष्टकर्म या प्रज्ञापराध

वाणी, मन और शरीरके संयोगसे होनेवाले कार्यको कर्म कहते हैं।

(अ) आवश्यकतासे अधिक शारीरिक क्रियांओंको अतियोग, बिलकुल क्रिया न करनेको–हीनयोग, तथा मल-त्याग जैसी शारीरिक क्रियाओंको रोकना, क्रोध जैसे आवेगोंको न रोकना, धूपमें तपड़ना, पानीमें बहुत कालतक रहना। अस्वाभाविक क्रिया करना, आदिको मिथ्यायोग कहते हैं।

(ब) अति बकवास करना, यह वाणीका अतियोग; बिल-कुल न बोलना यह वाणीका हीनयोग तथा असंगल, झूठ, असंबद्ध, कठोर बोलना यह वाणीका मिथ्यायोग कहलाया जाता है।

(क) मनकी अतिचंचलता को मनका अतियोग, मन अतिजड़ अवस्थामें रहना इसको मनका हीनयोग तथा काम, क्रोध, अहंकार, कपट नीतिको मनका मिथ्यायोग कहते हैं।

दुष्ट काल और परिणाम

(१) हर ऋतुमें होनेवाले स्वाभाविक लक्षणोंमें जब अनावश्यक वृद्धि होजाती है तब वह कालका अतियोग कहलाता है। जैसे:— बरसातमें अतिवर्षा; जाड़ेके दिनोंमें अति शीतता और गर्मीके दिनोंमें अति उष्णता।

(२) ऋतुमें होनेवाले स्वाभाविक लक्षणोंका अभाव कालका हीनयोग कहलाता है।

(३) ऋतुके स्वाभाविक लक्षणोंके विपरीत लक्षण होना यह कालका मिथ्यायोग कहलाता है। जैसे बरसातके दिनोंमें जाड़ा।

इत्यसात्म्येंद्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकाराणाम्। समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति ॥

च. सू. ११–४४

इंद्रियार्थ संयोग, बुद्धि और कालका अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग ये तीन प्रकारके विकल्प–रोगोंके उत्पन्न होने के कारण हैं। इन तीनोंकाही सुप्रयोग होना आरोग्यताका कारण है।

दोषधातुमलादिओंके क्षयके हेतु

व्यायामोऽनशनं चिंता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपो भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः।

च. सू. १७–७६

दोषवृद्धि के

वात

१ प्रकृति
  पिंडधर्म } वातप्रकृति ।
  (वातादि दोषों का वर्णन देखिये)

२ आयु—वृद्धावस्था ।

३ ऋतु—ग्रीष्म–वर्षा (वृद्धि–प्रकोप) ।

४ दिनभाग—दिन के अंतभाग या गोधूलिक काल में २ से ६ तक ।

५ रात के भाग—रात्रि के पश्चिम काल में २ से ६ तक ।

६ भोजन की पचनावस्था—भोजन जीर्ण हो जानेपर ।

७ आहार—कटु, कषाय, तिक्त, रसयुक्त और रुक्ष, लघु और शीत गुणयुक्त अन्न का सेवन, उपवास, अनुचित समय पर भोजन करना तथा भोजन पर भोजन करना ।

८ विहार—१ मलमूत्रादिकों का वेग रोकना ।
  २ कामक्रोधादिकों का वेग धारण नहीं करना ।
  ३ अति व्यायाम और संभोग, अति अध्ययन, रात में जागरण करना ।

९ देश — जहाँ पानी, वृक्ष और पर्वत की कमी है ऐसा देश (जांगल) ।

१० मन की अवस्था—अस्थिरता ।

सहायक हेतु

पित्त	कफ
पित्तप्रकृति ।	कफप्रकृति ।
यौवनावस्था ।	बाल्यावस्था ।
वर्षा—शरद् (वृद्धि--प्रकोप)।	शिशिर—वसंत (वृद्धि—प्रकोप) ।
दिन के मध्य भाग मध्याह्न में १० से २ तक ।	दिन के पूर्व भाग या प्रातःकाल में ६ से १० तक ।
मध्य रात्रि में १० से २ तक ।	रात के प्रारंभ में ६से १० तक ।
भोजनकी पच्च्यमानावस्था में	भोजन खाने के पश्चात् तुरन्त
आम्ल, लवण, कटु रसयुक्त और तीक्ष्ण, उष्ण, लघु गुणयुक्त आहार, बहुत खाना, उपवास, आम्लफल का सेवन तथा मद्य और दधीका सेवन ।	मधुर, आम्ल, लवण रसात्मक और स्निग्ध, गुरु, शीत गुणयुक्त आहार, नियमके विरुद्ध आहार तथा पुनः पुनः खाना ।
धूपमें बैठना, कामक्रोधादिकों का वेग धारण नहीं करना, श्रम करना ।	दिनमें सोना, व्यायाम बिलकुल नहीं करना, संभोग नहीं करना ।
जो प्रदेश रुक्ष और उष्ण कटिबंधमें आता है ऐसा देश ।	जहाँ पानी, वृक्ष और पर्वत बहुत विपुल हैं ऐसा आनुप देश
तप्तता	शांतवृत्ति ।

कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम् ।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥
च. सू. १७-७७

अतिव्यायाम, भूखे रहना, चिंता, रूक्ष और थोडा भोजन करना, वायु और धूपका सहना, भय, शोक, रूक्ष वस्तुओंका सेवन, बहुत जागना, कफ और रक्त तथा शुक्रका अत्यंत स्राव होना या निकालना, मूत्रादिकों की अतिप्रवृत्ति, वृद्धावस्था, कृमि और जंतुओंका संसर्ग ये सर्व क्षय होनेके कारण हैं । दूषित हुअे वस्तुओंका अतिसंशोधन और प्रकोप हुअे वस्तुओंका अतिसंशमन तथा असात्म्य अन्न और पान ये उपरके अतिरिक्त क्षयके कारण सुश्रुताचार्यने कहे हैं ।

वृद्ध दोषों के सब मिलकर पचीस भेद

पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ॥
वा. सू. १२-७४

पृथक् दोषोंके तीन जानो—वातवृद्धि. पित्तवृद्धि और कफ-वृद्धि । इनका संयोग तीन प्रकारका है; यथा-वातपित्त, वायु-कफ और पित्तकफ । ये संयोग नौ हैं

त्रीनेव समया वृद्धया षडेकस्यातिशायने ।
वा. सू. अ. १२-७५

एक एक दोषकी समानतासे तीन संयोग होते हैं; यथा वात-पित्त, वातकफ, कफपित्त[३] । एक एक दोषकी वृद्धिसे छःसंयोग होते हैं यथा वातवृद्ध-पित्तवृद्धतर, पित्तवृद्ध-वातवृद्धतर[२], कफवृद्ध पित्तवृद्धतर[३], पित्तवृद्ध-कफवृद्धत्तर, कफवृद्ध-वातवृद्धतर, वातवृद्ध-कफवृद्धतर[६]

त्रयोदश समस्तेषु षड् द्वेकातिशयेन तु ॥
एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ।
वा. सू. अ. १२–७५

तीनों दोषोंके मिलनेसे तेरह भेद बनते हैं। इनमेसें छः भेद तो दो दोषोंके एकसे अधिक होनेपर-तीन; तथा दोसे एक दोष के अधिक होनेपर तीन-इसप्रकारसे छः संयोग होते हैं।

यथाः— १ कफवृद्ध-वातपित्ताधिकवृद्ध, २ पित्तवृद्ध-वातकफाधिकवृद्ध ३ वातवृद्ध-कफपित्ताधिकवृद्ध ४ कफपित्तवृद्ध-वाताधिकवृद्ध, ५ वातकफवृद्ध-पित्ताधिकवृद्ध, ६ वातपित्तवृद्ध-कफाधिकवृद्ध। तीनों दोषोंके संयोगसे एकभेद उत्पन्न होता है। तर और तमकी भिन्नतासे छः संयोग होते हैं। इसप्रकारके तेरह संयोग हैं।

यथाः— १ वातवृद्ध-पित्तवृद्धतर-कफवृद्धतम, २ वातवृद्ध-कफवृद्धतर-पित्तवृद्धतम, ३ पित्तवृद्ध-कफवृद्धतर-वातवृद्धतम ४ पित्तवृद्ध वातवृद्धतर-कफवृद्धतम, ५ कफवृद्ध-वातवृद्धतर-पित्तवृद्धतम, ६ कफवृद्ध-पित्तवृद्धतर-वातवृद्धतम। इसप्रकार सन्निपातके तेरह भेद हैं और सब मिलाकर दोषवृद्धिमें पच्चीस भेद हैं। दोष क्षयमें भी उतने ही भेद समझें।

स्रोतसों की

स्रोतोंके प्रकार   स्रोतोंकी दुष्टिके हेतु

(१) प्राणवहस्रोतस्—

क्षयात्सन्धारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च ।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्त्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥

च. वि. ५–१४

धातुओं के क्षीण होनेसे, मलमूत्रादि वेगों को धारण करने से, रुक्षतासे, अधिक परिश्रम करनेसे, बहुत क्षुधा लगनेसे ।

(२) उदक वह या अंबुवाही स्रोतस्—

औष्ण्यादामाद्भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात् ।
अंबुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णया चातिपीडनात् ॥

च. वि. ५–१५

उष्णतासे, आमदोषसे, भयसे, मद्य आदि पीनेसे, अधिक शुष्क अन्न सेवन से, अत्यंत प्यास लगने से ।

(३) अन्नवहस्रोतस्—

अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् ।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च ॥

च. वि. ५–१६

अधिक, बेसमय, विषम भोजन करनेसे तथा जठराग्नि की विगुणतासे ।

(४) रसवह स्रोतस्—

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रनिषेवणात् ।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानांचातिचिंतनात् ॥

च. वि. ५–१७

दुष्टि

स्रोतोंकी दुष्टि के लक्षण	चिकित्सा
श्वास – अधिक तेज या रुक कर, शब्द और शूलयुक्त होना	--श्वासचिकित्सा
जिव्हा, तालु, ओष्ठ, कंठ और क्लोम आदि सूखते हैं। प्यास अधिक लगती	—तृषानाशक
अन्न की अभिलषा न होना, छर्दि, अरुचि, अन्नका परिपाक न होना।	— आमदोष नाशक

अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता।
हृल्लासो गौरवं तंद्रा सांगमर्दो
ज्वरस्तमः॥

भारी, शीतल, आर अत्यंत स्निग्ध पदार्थोंके अधिक सेवन करना, बहुत चिन्ता करना ।

(5) रक्तवहस्रोतस्—

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च ।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ ॥

च. वि. ५-१८

विदाही, उष्ण, स्निग्ध, और द्रव पदार्थोंका सेवन करना तथा धूप और अग्निका सेवन ।

पांडुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशांगता ।
नाशोऽग्नेरयथा कालं वलयः पलितानि च ॥

भोजनमें अश्रद्धा, अरुचि, मुखकी विरसता, रसका अज्ञान, हृल्लास, गुरुता, तंद्रा, अंगमर्द, ज्वर, आखोंके आगे अंधःकार, पांडुपन, स्रोतोंका अवरोध, क्लीबता, अंगोंका अवसाद, कृशता, मंदाग्नि शरीरमें सरवट पडना, बिना ही समय के बालोंका सफेद हो जाना।

— लंघन

कुष्ठविसर्पपीडका रक्तपित्तमसृग्दरः ॥
च. सू. २८–९

गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधी।
नीलिका कामला व्यंग पिप्लवस्तिल कालकाः ।
च. सू. २९–९

दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमंडलम् ।

कुष्ठ, विसर्प, पीडका, रक्तपित्त, प्रदर, गुदा, लिंग तथा मुखका पकना, प्लीहा, गुल्म, विद्रधी, नीलिका, कामला, व्यंग, पिप्लव, तिल, कालक, दद्रु, चर्मदल, श्वेतकुष्ठ, पामा, श्यैत्यापित्त और रक्तमंडल।

जिस साध्य रोगोंका – शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, आदि उपचारोंके द्वारा अच्छी और योग्य प्रकारसे चिकित्सा होते हुअे भी – शमन नहीं होता है वे रक्त दोषज कहलाते हैं। रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करें, विरेचन, उपवास, रक्तमोक्ष आदि।

(8) मांसवहस्रोतस्—

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च ।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतो दिवा ॥
च. वि. ५–१९

अभिष्यन्दी, स्थूल, और भारी पदार्थोंका भोजन करना, भोजन कर दिनमें सो जाना ।

(9) मेदोवहस्रोतस्—

अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात् ।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥
च. वि. ५–२०

व्यायाम न करना, दिनमें सो जाना, स्निग्ध पदार्थोंका अधिक सेवन करना, और मद्य अधिक पीना ।

अधिमांसार्बुदं कीलगलशालूक शुंडिकाः।
पूतिमांसालजीगंडगंडमालोप-
जिह्विकाः ।
च. सू. २८–२१

आधिमांस, अर्बुद, अर्श, गलसारुक, गलशुंडी, पूतिमांस, अलजी, गलगंड, गंडमाला, और उपाजिव्हिका ।

शस्त्रक्रिया, क्षारोंका उपयोग और अग्निकर्म ।

आयुषो र्‍हासो जरोपरोधः कृच्छ्र्व्य-
वायता दौर्बल्यं ।
दौर्गंध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासा-
तियोगश्चेति ॥

अल्पायुता, वृद्धत्व जलदी आना, स्त्रीसंभोगमें कष्ट, शक्तिनाश, अंगोंको दुर्गन्धि, अतिस्वेद, अतिभूख, और अति-तृष्णा ।

विरेचन, चिन्ता जागरण, लंघन, तथा दशमूल, मद्य, गुग्गुल और शिलाजित आदि द्रव्य हितकारक होते हैं ।

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणि-
पादयोः ।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं
च जायते ॥

दाँत, नेत्र और कान में बहुत मल उत्पन्न होना, हाथ और पैरोंमें दाह, अंगको चिक्कणता, तृष्ण मुख में मधुर

(८) अस्थिवहस्रोतस्—

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामति च भक्षणात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात् ॥
च. वि. ५–२१

अतिश्रम, अतिसंक्षोभ, अस्थिओंका अतिसेवन, वातवर्धक पदार्थोंका सेवन।

(९) मज्जावहस्रोतस्—

उत्पेषादत्यभिषन्दादभिघातात्प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्।
च. वि. ५–२२

अतिमर्दन, अतिस्रवण, चोटका लगना, शरीरका प्रपीडन तथा विरुद्ध पदार्थोंका सेवन करना।

रसता आदि प्रमेह के पूर्वरूप दिखाई देते हैं ।

अध्यस्थिदंतदंतास्थिभेदशूलं विवर्णता ।
केशलोमनखश्मश्रु दोषांश्चास्थिप्रकोपजाः ॥

अध्यस्थि, (हड्डीके उपर हड्डी बढ़ना) अधिदंत, अस्थिभेद, दंतशूल, अस्थिशूल और विवर्णता ये लक्षण होते हैं तथा केश, लोम, नख और श्मश्रुके विकार होते हैं ।

च. सू. २८-१३

—वमन, विरेचन, शिरोविरेचन आस्थापन, अनुवासन बस्ति, तिक्तकगण तथा दूध और घृतकी बस्ति द्वारा चिकित्सा ।

रुक्पर्वणां भ्रमोमूर्च्छा दर्शनं तमसो मताः ।
अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ॥

च. सू. २८-१४

संधिओंमें पीडा, भ्रम, मूर्च्छा, अंधःकार, संधिस्थानोंमें स्थूलमूलयुक्त बडी अरुषिका नामक फुन्सियाँ ।

—मधुर और तिक्त पदार्थोंका सेवन, यथा समय उचित मात्रामें वमनादिकों द्वारा संशोधन, उचित मैथुन और व्यायाम ।

(10) शुक्रवहस्रोतस्—

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।
शुक्रवाहीनि दुष्यंति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥
च. वि. २८–२३

विनासमय मैथुन करना, अयोग्य मैथुन करना, वीर्य निग्रह, अतिमैथुन, शस्त्र, क्षार तथा अग्निका संयोग ।

मूत्रितोदकभक्षस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याथ कृशस्य च ॥
च. वि. ५–२४

आये हुअे मूत्र के वेग रोकना, मूत्र के वेग रोककर पानी पीना, भोजन करना और स्त्रीगमन करना, तथा कृशता और क्षीणता प्राप्त होनेसे मूत्रवाही स्त्रोत दूषित हो जाते हैं ।

विधारणादत्यशनादहिताध्यशनात्तथा ।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्यच ॥
च. वि. ५–२५

मल के वेगको रोकना, अधिक या अहितकारक भोजन करना, दुर्बल अग्नि, कृशता ।

व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥
च. वि. ५–२६

अधिक व्यायाम करना, अतिसंताप, क्रम छोड़कर शीतोष्ण पदार्थोंका सेवन करना, तथा क्रोध, शोक और भयसे स्वेदवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं ।

(मलवृद्धि, क्षय और उनपरकी चिकित्सा मलकाष्टकम देखिये)

क्लैव्यमप्रहर्षणम् ।
रोगिणं क्लीबमल्पायुं विरूपं वा प्रजायते ॥
न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ॥
च. सू. २८-१५।१६

शिस्नका उत्थापन न होना, नपुंसकता आयुका कम होना, संतान का न होना और कुत्सित संतान होना, गर्भका पतन, स्त्री और संतानको बाधा ।

उपरोक्त चिकित्साके समान ।

धातुक्षय और वृद्धिलक्षण

क्षय	वृद्धि
रस :— हृदयमें पीड़ा, कंप और शून्यता तथा तृषा ।	रसोऽपिश्लेष्मवत् । वा. सू. ११-८
रसक्षये हृत्पीडाकंप शोष-शून्यतास्तृष्णा च । सू. सू. १५-१० अष्टांगहृदय में श्रम, ग्लानि, शब्दासहिष्णुता ये लक्षण अधिक दिये हैं ।	रसोतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं च आपादयति । सु. सू. १५-१८ बढ़ा हुआ रस भी कफकी भाँति लक्षण करता है । जी मचलना और मुँहसे पानी निकलना ।
रक्त:—रक्तेऽम्लशिशिर प्रीतिशिराशैथिल्यरूक्षता । वा. सू. ११।१७ अम्लरस तथा (शिशिर) ठण्डी वस्तुओंमें रुचि, शिराओं की शिथिलता और रूक्षता ।	रक्तं रक्तांगाक्षतां सिरा-पूर्णत्वं च । सू. सू. १५-१८ शरीर और नेत्रों में सुर्खी और सिराओं की पूर्ति । विसर्प, प्लीहावृद्धि, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, गुल्म, उपकुश (दंतरोग विशेष) कामला, व्यंग आदि रोग तथा-अग्निनाश, सम्मोह, त्वचा, आंख और मूत्र में लालिमा ।

मांसः--मांसेऽक्षग्लानि-गंडस्फिक्‌शुष्कतासंधिवेदनाः। वा. सू. ११-१८

मासंस्फिग्गंडौष्ठोपस्थोरुबाहुजंघासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च। सू. सू. १५-१८

कटि, होठ, शिश्न, जाँघ भुजा इन में स्थूलता और गुरुगात्रता।

गलगंड, अर्बुद, ग्रंथि, उरु और उदरवृद्धि और कंठ-स्थानमें अधिमांस रोग आदि होते हैं।

मेद:-मेदसि स्वपनं कटयाः प्लीह्नो वृद्धिः कृशांगता।
वा. सू. ११-१८

संधिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांस प्रार्थना च।
सू. सू. १५-१०

कटि में स्पर्श का नाश, प्लीहा की वृद्धि और अंगों में कृशता, संधिओं में शून्यता और स्निग्ध मांस खाने की इच्छा

तद्वन्मेदस्तथा श्रमम्। अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलंबनम्।
वा. सू. ११-१०

बढ़ा हुआ मेद-मांस की भांति विकार करता है। थोडेसे परिश्रमसे भी थकान एवं श्वास, नितंब, स्तन और उदर लटकने लगते हैं।

श्वासकासादीन् दौर्गंध्यं च।
सू. सू. १५-१८

खाँसी, श्वास तथा त्वचामें दुर्गंधि।

अस्थि:-अस्थ्यस्थितोदः सदनं दंतकेशनखादिषु ।

अस्थिओं में वेदना, दंत, केश, नख आदिका नाश होना

मज्जाः-अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमितदर्शनम्

वा. सू. ११-१९

अस्थिओं में खोखलापन, चक्कर आना, आँखों के सामने अंधेरा रहना,

अल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदो ऽस्थिशून्यता च । सु. सू. १५-१०

वीर्यकी अल्पता, अस्थिओं और संधियों में पीडा तथा अस्थिशून्यता ।

शुक्रे चिरात्प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा । तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च । वा.सू. ११-२०

अशक्तिर्मैथुने ।

शुक्रका देरमें क्षरण होना, अथवा रक्त का आना, वृषणों में अतिवेदना और मेहन में जलन, मैथुनके लिये दौर्बल्य ।

अधिक अस्थि और अधिक दांतको करती है । तथा अध्यस्थि और अधिदंत विकार होते हैं ।

मज्जा नेत्रांगगौरवम् ।

पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात् कृच्छ्राण्यरूंषि च ।

वा. सू. ११।११-१२

नेत्र और दूसरे अगों में भारीपन, पर्वसंधिओं में स्थूल तथा कष्टसाध्य फुन्सिओं की उत्पत्ति.

अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि ।

वा. सू. ११-१२

अतिशय स्त्रीसंभोगेच्छा, शुक्राश्मरी की उत्पत्ति ।

ओजकी विकृतिके हेतु

अभिघातात्क्षयात्कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात्क्षुधः ॥
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥

सु. सू. १५-२५

आघात, धातुक्षय, क्रोध, शोक, चिन्ता, परिश्रम और अनशन इनसे ओजका क्षय होता है। हृदयसे प्रेरित हुआ ओज जब धातुवाही स्रोतोंसे निसृत होता है तब मनुष्योंके अपने स्वाभाविक कर्मोंसे वंचित करता है।

ओजके तीन दोष होते हैं—व्यापद्, विस्रंस और क्षय। विस्रसके लक्षण:—अंगोंका ढीलापन और थकान, दोषोंका स्थानभ्रष्ट होना, थक जाना और कार्योंमें प्रचुरता न होना। व्यापद्के लक्षण:—शरीरके अंगोंमें स्तब्धता और भारीपन, ग्लानि, वर्णका अन्यथाभाव, तंद्रा, निद्रा, वातिक शोथ। ओज क्षयके लक्षण:—मूर्च्छा, धातुओंका क्षय, बेचैनी, प्रलाप, अज्ञान तथा पूर्वोक्त लक्षण (व्यापद् और विस्रंसके) और मृत्यु।

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः ॥
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः ॥
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम् ॥

सु. सू. १५-३०

गुरुत्वं स्तब्धतांगेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम् ।
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ॥

सु. सू. १५-३१

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ।
पूर्वोक्तानि च लिंगानि मरणं च बलक्षये ॥
सु. सू. १५-३२

ओज विकारोंकी चिकित्सा

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैर-
विरुद्धैर्बलमास्थापयेत्, नष्टसंज्ञमितरं तु वर्जयेत् ॥
सु. सू. १५-३३

तत्क्षये जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्रभेषजम् ॥
वा. सू. ११-४१

इनमेंसे विस्रंस और व्यापद्की अवस्थामें ओजोनुकूल विशेष क्रियाओंके द्वारा बलको बढ़ाना उचित है याने अग्निको समान कर रसायन और वाजीकरणादि क्रिया करके ओजकी साम्यावस्था प्रस्थापित करें। इसलिये जीवनीय औषधी, दूध मांसरस आदिओंकी योजना करें। क्षयावस्थाके नष्टसंज्ञ मनुष्यको छोड़ देना चाहिये।

ओजवृद्धिके लक्षण

ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ।
वा. सू. ११-४१

ओजकी वृद्धिसे शरीरकी तुष्टि, प्रहर्ष, पुष्टि तथा शक्तिका उत्कर्ष होता है।

रक्ते (रक्तक्षये)ऽम्लशिशिरप्रीतिः ।

रक्तक्षयमें आम्लरस और शीत पदार्थोंको खानेकी चाह पैदा होती है क्योंकि रक्तका आश्रय करनेवाले पित्तका क्षय यमें होता है। पित्तका उष्णगुण और आम्लत्वका ही

क्षय होता है। आम्लरस प्रायः उष्णवीर्य होता है। स्वाभाविकतासे पित्तकी साम्यावस्थाके लिये आम्लत्व और उष्णगुणयुक्त आम्लरसकी इच्छा होती है।

रक्तक्षयके साथ रसक्षयभी होता है क्योंकि रसको रंजकत्व प्राप्त होनेसेही रक्तकी निर्मिति होती है। किसीभी धातुका क्षय होनेसे वायुकी वृद्धि होती है। उस वृद्धिको हटानेके लिये वायुनाशक आम्लरसको खानेकी इच्छा बढती है। तथा रक्तक्षयके साथ होनेवाले रसक्षयसे आप् धातुका क्षय होता है। आप् धातुके क्षयसे निर्माण हुओ शैत्य क्षय दूर करनेके लिये शिशिरप्रीति होती है याने शीतल चीज़ोंकी चाह होती है।

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयंत्यबुधास्तु न ॥

वा. सू. ११--४३

वातादिदोष प्रमाणसे अधिक बढ़कर अपने गुणोंसे विपरीत गुणवाले अन्नमें रुचिको करते हैं। अपने प्रमाणसे कम हुओ दोष अपने समान गुणवाले आहारमें रुचिको करते हैं। ऐसा प्रायः होता है। अपंडित–मूर्ख इसको नहीं पहचानते।

धातुविकृतिकी सामान्य चिकित्सा

(दोषोंका आधार–आधेय संबंध)

तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः।

वा. सू. ११–२६

यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्।
अस्थिमारुतयोर्नैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥

वा. सू. ११–२७

श्लेष्मणानुगता तस्मात् संक्षयस्तद्विपर्ययात् ।
वायुनानुगतः :   वा. सू. ११-२८

वायु-अस्थिओंमें रहती है । पित्त-स्वेद और रक्तमें, कफ-शेषमें-याने रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्रमें रहता है । इसलिये इनमें परस्पर आधार-आधेय संबंध है । जो औषधी एकको बढ़ाती है वह दूसरे आश्रयीकोभी बढ़ाती है । जो एकको घटाती है वह दूसरेकोही घटायेगी । [यथा-दूध शुक्रको बढ़ाता है वह आश्रयी कफकोभी बढ़ायेगा । जो मेदको घटाता है वह कफकोभी कम करेगा] परंतु अस्थि और वायुका संबंध इसमें अपवाद रूप है । क्योंकि शरीरमें जो वृद्धि होती है उसका कारण प्रायः संतर्पण होता है और यह कफसे संबद्ध होती है । इसलिये दोषादिका क्षय प्रायः करके संतर्पणके विपरीत अपतर्पणसे होता है । यह क्षय वायुसे संबद्ध होता है । इसलिये अस्थिको बढ़ानेवाले जो स्निग्ध मधुरादि हैं-वे वायुको कम करते हैं । वायुको बढानेवाले रूक्ष, शीत आदि द्रव्य अस्थिको कम करते हैं । इस कारणसे वृद्धि और क्षय जन्य रोगोंकी क्रमशः लंघन (अपतर्पण) और बृंहण (संतर्पण) से शीघ्र चिकित्सा करें । किंतु वायुवृद्धि और क्षयपर उपरके विरुद्ध चिकित्सा करें ।

रक्तवृद्धिपरः—रक्तमोक्ष या विरेचन ।

मांसवृद्धिपरः—शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म ।

मेदवृद्धि और क्षयपर } क्रमसे लंघन, बृंहण ।

अस्थिक्षयपरः—दूध, घृतका सेवन और तिक्त रसयुक्त बस्ति आदि चिकित्सा करें ।

धातु क्षयकी चिकित्सा

तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः॥सु.सू. १५-१४

रसादि धातुओंकी क्षीणतामेंभी स्वयोनिवर्धक (अर्थात् जिसकी क्षीणता हो उसकी वृद्धि करनेवाले) द्रव्योंका उपयोग करें।

धातु वृद्धिकी चिकित्सा

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः कुर्वीत। सु. सू. १५-२१

बहुत बढ़े हुअे दोषधातुमलोंकी चिकित्सा संशोधन तथा संशमन किंतु क्षयके अविरुद्ध विशिष्ट क्रियाओं द्वारा करें।

चिकित्सा संबंधी सामान्य सूत्र

(१) वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

वा. सू. १-१४

वातादिदोष, रसादिधातु और मूत्रादिमलोंकी समान कारणोंसे वृद्धि होती है, और विपरीत कारणोंसे ऱ्हास होता है।

इनमें जो जिसके समान होता है वह उसको बढ़ाता है; और विपरीतसे ऱ्हास होता है। ये समान और विपरीत कारण तीन प्रकारके होते हैं-द्रव्य, गुण और कर्म। **द्रव्यसे वृद्धिः**—रक्तसे रक्त और मांस से मांस बढ़ता है। जलात्मक कफ जलात्मक दूधसे बढ़ता है; हरणदोडी, काकोली आदि सोमात्मक होनेसे सोमात्मक जो स्नेह, वीर्य और बलको बढ़ाते हैं; मिरी, पंचकोल, चित्रक आदि अग्नि गुणात्मक तेज और बुद्धिको बढ़ाते हैं। **गुणसे वृद्धिः**— खर्जुर आदि पार्थिव द्रव्य होनेपर अपने द्रव्य गुणसे कफको बढाते हैं क्योंकि ये स्निग्ध, गुरु और शीत हैं; गवेधुक पार्थिव होनेपरभी शरीर

को अपने द्रव्यगुणसे कृश करता है। कर्मसे वृद्धि या ऱ्हासः-दौडने, कुदने और तैरने आदिसे चल गुणात्मक वायु बढ़ती है; बोलने गानेसे वायु बढ़ती है; काम चिंता दुःख आदि मानसिक कारणोंसे मनका क्षोभ होकर वायु बढ़ती है। उनके विपरीत निद्रा, आलस्य, मनकी प्रसन्नता ये अगतशील होनेसे गतिमान वायुको शांत कर देते हैं।

(२) तत्राद्या मारुतं घ्नंति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥
वा. सू. १-१५।१६

रसोंमेंसे मधुर, अम्ल, लवण ये रस वायुका शमन करतें हैं; और तिक्त, कटु, कषाय ये तीन रस कफका शमन करते हैं तथा कषाय, तिक्त, मधुर ये तीन रस पित्तका शमन करते हैं। तिक्त, कटु, कषाय वायुको बढ़ाते है; मधुर, अम्ल, लवण कफको और अम्ल, लवण, कटु ये रस पित्तको बढ़ाते हैं।

(३) शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा।
शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम् ॥
वा. सू. १-२५

बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।
वा. सू. १-२६

संक्षेपसे औषध दो प्रकारका है-शोधन और शमन। इन में जो औषध दोषोंको शरीरसे बाहर करता है वह शोधन औषध है। जो औषध दोषोंको शरीरसे बाहर नहीं निकालता अपि तु शरीरमें शांति कर देता है वह शमन औषध है। मदन और त्रिवृत् ये दोनों शोधन द्रव्योंके प्रकार हैं। गिलोय और धमासा ये शमन द्रव्योंके प्रकार हैं।

वात, पित्त और कफके लिये बस्ति, विरेचन और वमन ये क्रमशः प्रधान कर्म हैं और तैल-घृत-मधु ये क्रमशः प्रधान शमन द्रव्य हैं।

(४) धीर्धैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्।

वा. सू. १-२६

मानसिक दोषोंके लिये धी, धृति और आत्मा आदिका ज्ञान करना उत्कृष्ट औषध है।

(५) ग्रैष्म्यः प्रायो मरुत्पित्ते वासंतः कफमारुते।
मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारदः॥

वा. सू. १३-१४

वायु और पित्तके संसर्गमें ग्रीष्म ऋतुका उपचार; कफ और वायुमें वसंत ऋतुका; कफ और पित्तमें शरद् ऋतुका उपचार करना चाहिये। वायु योग वाही है इसलिये पित्तसहित वायुपर पित्तचिकित्सा और कफसहित वायुपर कफचिकित्सा करें

(६) चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः॥

वा. सू. १३-१५

दोषको उसके संचय कालमेंही शांत करना चाहिये; यदि दोष कुपित अवस्थामें आ जाये तब दूसरें दोषोंसे विना विरोध के इसको शांत करें। तीनों दोषोंके कुपित होनेपर बलवान दोषको शेष दोषोंका विरोध न करते हुअे शांत करें।

(७) तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु च।
कुर्यात् चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु॥

वा. सू. १३-२०

यदि अन्य स्थानमें प्रकुपित हुअे दोषोंकी चिकित्सा करते

समय दोषोंका बल कम रहेगा तो स्थानिक दोषोंकी चिकित्सा करें किंतु दोषोंके बलवान होनेपर खास उन दोषोंकीहि चिकित्सा करना चाहिये स्थानिक दोषोंकी नहीं।

आगंतु शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ।

परंतु प्रसर होनेवाले दोष और स्थानिक दोष उन दोनों का बल समान होगा तो स्थानिक दोषका पहले प्रतिकार करके आगंतु दोषका शमन करें ।

ज्ञात्वा कोष्ठं प्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत् ।

वा. सू. १३-२३

दोषको कोष्ठमें आनेपर जो समीपका मार्ग हो, उससे बाहर निकाल देवें।

(८)
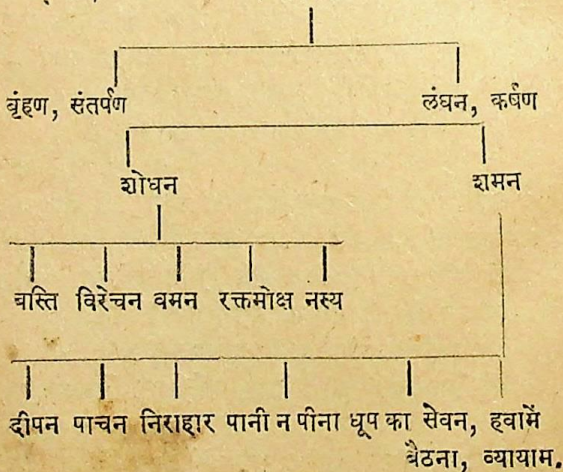
बृंहणं यद्बृहत्वाय लंघनं लाघवाय यत्।
वा. सू. १४-२

देहकी पुष्टताके लिये जो होता है वह बृंहण है और देहकी लघुता-कृशताके लिये जो होता है यह लंघन है।

देहस्य भवतः प्रायो भौमापमितरश्चते।

प्राय: करके पृथ्वी और जल भूयिष्ठ बृंहण करनेवाले होते हैं। अग्नि, वायु और आकाश भूयिष्ठ द्रव्य लंघन करनेवाले हैं।

स्नेहनं, रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तंभनं च यत्।
भूतानां तदपि द्वैध्याद्द्वितयं नातिवर्तते।
वा. सू. १४-३

स्नेहन

स्वेदन, रूक्षण, स्वेदन और स्तंभनरूपी चार प्रकारका जो कर्म है, वहभी संतर्पण और अपतर्पण इन दोसे पृथक् नहीं है इनकाभी इनमेंही समावेश है; क्योंकि पंचमहाभूतभी संतर्पण और अपतर्पण रूपसे दो प्रकारके हैं।

यदीरयेद्बहिर्दोषान्पंचधा शोधनं च तत्।
वा. सू. १४-५

जो दोषोंको शरीरसे बाहर निकालती है वह चिकित्सा शोधन है; यह शोधन पाँच प्रकारका है।

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा॥
वा. सू. १४-६

पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः।
बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च॥
वा. सू. १४-७

जो दोषोंका शोधन नहीं करती तथा समान दोषों में

विकृति नहीं करती किंतु विषम दोषोंको समान करती है उसको शमन चिकित्सा कहते हैं। यह शमन सात प्रकारका है-पाचन, दीपन, भूख, प्यास, व्यायाम, धूप और वायु। केवल वायु और पित्तयुक्त वायुमें बृंहणही शमनका कार्य करता है।

सामदोषकी चिकित्सा

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत्।
लीनान्धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव॥
आश्रयस्यहि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः॥

वा. सू. १३-२८

संपूर्ण शरीरमें फैले हुए आमाश्रित दोषोंको शरीरके बाहर नहीं निकालना चाहिये। रसादि धातुओंमें छिपे हुए तथा अपने स्थानसे चलायमान न हुए दोषोंको वमनादिसे बाहर नहीं करें क्योंकि जिस प्रकार कच्चे फलसे रस निकालनेमें फलका नाश हो जाता है इसी प्रकार दोषको आमावस्थामें शरीरसे बाहर निकालनेमें शरीरका नाश होता है।

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान्स्वेदैश्च परिष्कृतान्॥
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्॥

वा. सू. १३-२९

दीपन, पाचन, स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओंसे सामदोषका पचन करके समीपस्थ मार्गसे और दोषके बलानुसार यथोक्त कालमें शोधन द्रव्योंसे शोधन करें।

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान्वहतः स्वयम्॥
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः॥

वा. सू. १३-३१

उपर या नीचेकी ओर प्रेरित हुअे अथवा स्वयं बाहर निकलते हुअे दोषोंको औषधियोंसे रोकना नहीं चाहिये। क्योंकि रुके हुअे दोष रोगको वढ़ाते हैं।

प्रवृत्तान्प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ॥
विबद्धान्पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा।
वा. सू. १३–३२

इसलिये प्रवृत्त हुअे दोषोंकी प्रारंभ अवस्थामें हितकारी आहार देते हुअे उपेक्षा करें। और जो दोष थोडा प्रवृत्त हो रहे हों, उनको पाचन औषधियोंसे पचावें अथवा बाहर निकाल देवें।

कोष्ठगत दोष शाखागत कैसे होते हैं।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्।
कोष्ठाच्छाखां मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
च. सू. २८–२८

अति और अहित व्यायाम करनेसे, अग्निकी तीक्ष्णतासे, अहितकर अन्नके सेवनसे, वायुकी प्रेरणासे, कोष्ठस्थ दोष शाखा और मर्मस्थानमें गमन करते हैं। उन स्थानोंमें पहुच-कर योग्य कारणसे प्रबलता पानेपर्यंत विलंबित रहते हैं। और कारण जनित सहायता प्राप्त कर कुपित हो अनेक–प्रकारके रोग उत्पन्न करते हैं।

शाखागत दोष कोष्ठगत कैसे होते हैं?

वृद्ध्याभिष्यन्दनात्पाकात्स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥
च. सू. २८–३०

वृद्ध हुअे दोष–अभिष्यंदी याने पतले हो जानेसे, स्रोतोंके

मुख खुलनेसे और शुद्ध होनेसे, पाचन औषधियों द्वारा परिपाक होनेसे, वायुके निग्रह होनेसे—शाखाओंको छोड़कर कोष्ठको प्राप्त हो जाते हैं ।

रोगोंके तीन मार्ग

शाखारक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हितत् ॥
तदाश्रया मषव्यंगगंडालज्यर्बुदादयः।वा.सू.१२-४४
बहिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः
वा. सू. १२-४५

शाखा, रक्तादिधातु और त्वचा ये रोगके बाह्य मार्ग हैं । इनमें मषक, व्यंग, गंण्ड, अलजी, अर्बुद तथा बाह्य भागके अर्श, गुल्म और शोफ आदि रोग होते हैं ।

अंतःकोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयश्रयः ।
तत्स्थानाच्छर्दतीसारकासश्वासोदरज्वराः ॥ वा.सू.
अंतर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधि।१२-४६

कोष्ठ या महास्रोतस " अभ्यंतर मार्ग " कहलाता है । इसमें आमाशय और पक्वाशयका अन्तर्भाव होता है । इसमें वमन, अतीसार, कास, श्वास, उदर, ज्वर तथा अन्दरके भाग के शोफ, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि, आदि रोग होते हैं ।

शिरोहृद्रयबस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च संधयः ॥
वा. सू. १२-४७

तन्निबद्धाः शिरास्नायुकंडराद्याश्च मध्यमः ।
रोगमार्गः स्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः ॥वा.सू.
मूर्धादिरोगाः संध्यास्थिलिकशूलग्रहादयः। १२-४८

मध्यमरोगमार्गमें शिर, हृदय, बस्ति आदि मर्मस्थान, अस्थि, संधि और त्वदाश्रित शिरा स्नायु और कण्डरा उनका

अंतर्भाव होता है। इसमें यक्ष्मा, पक्षवध, अर्दित, शिरोरोग, संधि, अस्थि और त्रिक इनमें शूल और इनका पकड़ जाना ये रोग होते हैं।

यकृत और प्लीहामें स्थित रक्त तथा हृदयमें स्थित रस उन दोनोंका अभ्यंतर मार्गसें समावेश होता है। त्वचामें स्थित रस तथा यकृत प्लीहाके व्यतिरिक्त शरीरमें स्थित रक्तका समावेश बाह्यमार्गमें होता है। साध्यासाध्यत्व और चिकित्साकी दृष्टिसे इन रोगमार्गोंका महत्व अधिक है।

सामान्यजा नानात्मजाश्च विकाराः।

चरकाचार्यने आगंतु और निज, साम या निराम तथा प्राकृत या विकृत आदि रोगोंके अनेक प्रकार बताये हैं। इसीतरह सामान्यजाः और नानात्मजाः ऐसे और दो प्रकारोंकाही उल्लेख किया है।

सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते। वात पित्त और कफ इन तीनोंसे जो रोग होते हैं वे सामान्य कहलाते हैं। उदर, अतिसार गुल्म, अपस्मार, शोथ आदिरोग तीनोंसेही निर्माण होते हैं जैसेः— वातोदर, पित्तोदर, कफोदर आदि।

नानात्मजा इति वातादिभिर्दोषांतरासंपृक्तैर्जन्यन्ते।

कुछरोग ऐसे होतें हैं कि वे वातादिओंमेंसे केवल किसी एक दोषसे उत्पन्न होते हैं जैसे दाहरोग या लक्षण केवल दुष्ट पित्तसे, शूल केवल दुष्ट वातसे तथा आलस्य केवल दुष्ट कफसे होता है।

चरकाचार्यने बताया है कि जो हरएक दोषके खास रोग होते है इनकी संख्या इस प्रकार है। वातके ८०, पित्तके ४० और कफके २० (आगे दिया कोष्टक देखिये।)

वातादिकों के प्रमुख रोग

	वायु	पित्त	कफ
निद्राः	—निद्रानाश	अल्प निद्रा	अति निद्रा
मलमूत्रादिकों का रंग	—श्याम या अरुण	पीला और हरा	सफेद
रुचिः	—कषाय ।	तिक्त	मधुरसी
अग्निः	—विषमाग्नि, अयोग्य समय में खाने की इच्छा, शूल, बधिरता, शोष,	तीक्ष्णाग्नि अतिभूख, अतृप्ति, दाह, तृष्णाकी अधिकता	मंदाग्निः-भूख मंद, भारीपन, शीतता,
शरीर की रचनाः	—कृशता	रक्तता	स्थूलता
पक्काशयावस्थाः	—मलाप्रवृत्ति	मलप्रवृत्ति	
अन्यः	—अर्दित, पक्षाघात, धनुर्वात, गृध्रसी, पंचज्ञानेंद्रियों की क्रियाएँ नष्ट होना, प्रलाप, चित्त अस्थिर होना, आध्मान जृंभा ।	क्रोध, अतिस्वेद, रक्तपित्त, कामला ।	आलस्य, गलगंड, बलासक ।

आवृतवात के लक्षण

शरीरमें रुक्ष आदि गुणों का प्रादुर्भाव होनेसे वायु का चय और प्रकोप होता है यह पहले ही बताया है। इस लिये धातुक्षय यह वायु की वृद्धि का एक कारण है; किंतु वायु द्रव्य नित्य गतिमान रहने से और अनवस्थित उसका धर्म होनेसे उस की गति में किसीभी प्रकारकी रुकावट आते ही उसका चयपूर्वक प्रकोप होता है। इसलिये मार्गमें अवरोध (रुकावट) यह वात वृद्धि का दूसरा कारण है। यह अवरोध कफ, पित्त, आम, अन्न रसादि धातु, पुरीषादि मल इनमेंसे किसी एक का हो सकता है। अथवा प्राणादि वायुओं का परस्पर अवरोध भी कारणरूप हो सकता है।

वायुका मार्ग पित्तके द्वारा रुक जानेसे:—दाह, शूल, भ्रम और क्लान्ति उत्पन्न होती हैं। उस समय कटु, आम्ल लवण और उष्ण पदार्थों के सेवन करनेसे विदाह तथा शीतल वस्तुओंकी इच्छा उत्पन्न होती है।

कफद्वारा वायुका मार्ग रुक जाय तो:—शीत लगना, भारीपन, और शूल होता है तथा कटु आदि कफनाशक पदार्थोंके सेवनसे शांति प्रतीत होती है और लंघन, परिश्रम तथा रुक्ष और उष्ण द्रव्योंके सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है।

रक्तद्वारा वायुका मार्ग रुक जानेसे:—दाह, पीडा, त्वचा और मांसमें लाल रंगकी पीडा युक्त सूजन तथा मंडल उत्पन्न होते हैं।

मांसद्वारा वायुके रुक जानेसे:—कठोर और विवर्ण पीडिका, सूजन, मांसमें सरसराहट और चीटिओंका चलने-कासा संचार प्रतीत होता है।

मेदद्वारा वायुके रुक जानेसे:—अंगोंमे चल, स्निग्ध, मृदु, शीत ऐसी सूजन तथा अरुचि उत्पन्न होती है। उसको आढ्यवात संज्ञा दी गयी है।

अस्थिद्वारा वायुके रुक जानेसे:—उष्ण स्पर्श और दबानेसे आराम प्रतीत होता है; सुई चुभनेकासा तोद होता है और ग्लानि आती है।

मज्जाद्वारा वायुके आवृत होनेसे:—शरीरका नमजाना, जंभाई, परिवेष्टन (लपेटनेकीसी पीडा) और शूल होते हैं। इसमें दबानेसे सुख प्रतीत होता है।

शुक्रद्वारा वायुके अवरोध होनेसे:—वीर्यका अवरोध या अतिवेग और शुक्र निष्फल होता है।

अन्नद्वारा वायुके आवृत होनेसे:—कुक्षिमें शूल, जो अन्नके जीर्ण हो जानेपर शांत हो जाता है।

मूत्रद्वारा वायुके अवरोध होनेसे:—मूत्रका अवरोध और बस्तिका फूलना होता है।

मलद्वारा वायुके रुक जानेसे:—मलका विबंध, गुदामें कतरनेकीसी पीडा, स्नेहपदार्थ का तत्काल जीर्ण होना, भोजनोत्तर पेट फूलना, पेट दबानेसे कष्टयुक्त थोडासा सूखा मल आना, नितंब, वंक्षण और पीठमें शूल, वायु की गति विरुद्ध होकर हृदयमें पीडा ये लक्षण होते हैं।

वायुके अन्योन्य आवरणके लक्षण

प्राणावृत्तव्यानसे:—संपूर्ण इंद्रियोंमें शून्यता, ज्ञान, और बलका क्षय। इसमें नस्यादि ऊर्ध्वगत रोगोकी जो चिकित्सा वह करना हितकारक है।

व्यानावृतप्राणसेः—अतिस्वेद, रोमहर्ष, त्वचाके विकार, शरीर का सुन्नसा होना ये लक्षण होते हैं। इसमें स्नेहयुक्त विरेचन करें ।

प्राणावृतसमानसेः—बोलनेमें जड़ता, गद्गद शब्द, मूकता ये लक्षण होते हैं। इसमें पान, अभ्यंग, अनुवासन और नस्य इन चारों प्रकारोंसे स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। तथा यापन बस्ति करना भी हितकारक है।

(४) समानावृतप्राणसेः—ग्रहणी और पार्श्वमें पीडा, आमाशयमें शूल ये लक्षण होते हैं। इसमें दीपन घृतों का प्रयोग करना हितकारक है।

(५) प्राणावृतउदानसेः—शिरोग्रह, प्रतिश्याय, निश्वास और उच्छ्वास की रुकावट, हृद्रोग, मुखशोष ये लक्षण होते हैं। उसमें ऊर्ध्वदेहिक चिकित्सा और आश्वासन करना हितकारक है।

(६) उदानवृतप्राणसेः—कर्मशक्ति, ओज, बल और वर्ण का नाश ये लक्षण होते हैं। अथवा मृत्युही हो जाती है। इसमें धीरे धीरे शीतल जलसे मुख आदि स्थानोंको सिंचन करें और आश्वासन देवें तथा अन्य उपकारी उपायों-को करें।

(७) प्राणावृतअपानसेः—वमन और श्वास आदिक रोग उत्पन्न होते हैं। इसमें बस्ति देवें और वायुके अनुलो-मन करनेवाले भोजनों का सेवन करें।

(८) अपानावृतप्राणसेः—मोह, अग्नि की मंदता और

अतिसार होते हैं। इसमें वमनकर्म तथा दीपन और संग्राही आहार का सेवन करें।

(९) व्यानावृतअपानसेः—वमन, अफारा, उदावर्त, गुल्म, पेटमें शूल और कतरनेकीसी पीडा होती हैं। इसमें स्निग्ध और अनुलोमन क्रिया हितकारक है।

(१०) अपानावृतव्यानसेः—मल, मूत्र और वीर्य की अत्यंत प्रवृत्ति होती हैं। इसमें भी संग्राही चिकित्सा करना हितकारक है।

(११) समानावृतव्यानसेः—मूर्च्छा, तंद्रा, प्रलाप, अंगों का सुन्नसा हो जाना तथा जठराग्नि, ओज और बल का क्षय हो जाता है। इसमें व्यायाम और लघु भोजन करें।

(१२) उदानवृतव्यानसेः—शरीर का जड़कना, अग्नि, की अल्पता, स्वेद न आना, चेष्टा की हानी और नेत्रोंका मिचासा जाना ये लक्षण होते हैं। इसमें थोडा और लघु भोजन करें।

पिछली परीक्षाओंमें पूछे गये प्रश्न

(१) दोषाणां भेदास्तथा दोषभेदानां स्थानानि कर्माणि च लिखत ।

(२) वातपित्तकफदूषितलक्षणानि लिखत । (वृद्धिक्षय-प्रकोप) तेषां कारणानि च लिखत ।

(३) वातपित्तश्लेष्मणां संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति भेदान् च वर्णयित्वा तेषामुपक्रमान् लिखत ।

(४) दोषधातुमलानामाश्रयाश्रियित्वं वर्णयित्वा प्रकुपितानां दोषाणां चिकित्सासूत्राणि वितरत । चिकित्साया अस्य किं प्रयोजनम् ।

(५) रसधातोरुत्पत्तिस्थानं प्राकृतकर्म च लिखत, कानिच तत्क्षयलक्षणानि ।

(६) कानि नाम वायोः प्रकोपनानि प्रशमनानि वा । कथं नाम तमसंघातवन्तमनवस्थितं प्रकोपनानि प्रशमनानि वा प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा ।

(७) किं नाम धातुसारत्वं, धातुसाराणां वर्णनं कुरुत ।

(८) मुखप्रविष्टमन्नं सारकिट्टविभजनं यावत् कथं परिणमति ।

(९) को नाम अग्निः । कतिविधा अग्नयः आयुर्वेदेषु उपदेशिताः तेषां कर्माणि वर्णयत ।

(१०) को नाम उपधातुः । केषां केषां धातूनां के के उपधातवः तेषां कार्याणि च लिखत ।

(११) मलशब्दस्य का निरुक्ति, आहारस्य तथा धातूनां

मलान् लिखित्वा शरीरे मलानां किं महत्वं च वर्णयित्वा वातादीनामपि मलेषु अंतर्भावो भवितुमर्हति न वा।

(१२) दोषाणां संचयप्रकोपप्रशमाः केषु ऋतुषु भवन्ति तत्सकारणं दर्शयित्वा प्रकुपितांना सामान्यप्रतिकारः लेख्यः।

(१३) दोषेषु रक्तस्य गणना कार्या वा न तत्सकारणं लिखत। रक्तक्षयस्य लिंगानि, चिकित्सां च लिखत। रक्तस्य महत्वं तथा विशुद्ध लक्षणं लिखत, वातादि दुष्ट रक्तस्य कानि लक्षणानि।

(१४) दोषदूष्ययोः का परिभाषा कति दोषा दूष्याश्च।

(१५) कानि वातपित्तकफाणां नित्योत्पत्तिकारणानि। का च परिस्थितिस्तमनुकूला भवति।

(१६) कालार्थकर्मणां असम्यक् योगाः सोदाहरणा लेख्याः।

(१७) रसाभिसरणस्य वर्णनं करणीयं। तथाच रसधातुतः अन्येषां धातूनां पोषणं कथं भवति तदपि सोपपत्तिकं लिखत। कथं मेदः स्वप्रमाणं अतिवर्तते, सर्वाणि मतमतांतराणि वर्णयत। खलेकपोतकेदाकुल्यान्याययोः तुलनापूर्वकं वर्णनं ग्राह्याग्राह्यत्वं च लिखत।

(१८) विंशतिगुणाः, पंचदशदोषभेदाः, त्रयोदशस्रोतांसि, एकादशइंद्रियाणि, नवद्रव्याणि सप्तकलाः त्रयोविपाकाश्च त्रयोदशदेहधातवः अष्टविधवीर्यं चेत्येषां नामानि; रसविपाक-वीर्यप्रभावाणामर्थाश्च लिखत।

(१९) किं नाम नानात्मजत्वम्। वातपित्तयोः प्रत्येकस्य दशदश नानात्मजाः व्याधयः लेख्याः।

(२०) दोषधातुमलानां सार्वकालिनं देहमूलत्वं समर्थयत।

(२१) का नाम देहप्रकृतिः; कतिविधा सा; तस्या आरंभक

कारणानि विस्तरेण दर्शयित्वा निकृष्टतमाया लक्षणानि लिखत। वातादिप्रकृतिपुरुषस्य लक्षणानि वर्णनीयानि ।

(२२) उत्पत्तिस्थितिविनाशेषु वातपित्तकफा एव कारणं कथं तद्विस्तरेण लिखत ।

(२३) दोषाणां सर्वस्मिन् शरीरे परिधावतां प्रारंभस्थानं धावनमार्गं कार्यं स्वरूपं च वर्णयत ।

(२४) ओजसः स्वरूपं तत्क्षये च का हानिः तद्विस्तरेण निरूपणीयम् ।

(२५) मेदसः विकृतिलक्षणानि निरूप्य तत्रप्रशमोपायः लेखनीयः ।

(२६) पित्ताग्नयोश्च बलौजसोश्च भेदाभेदविचारं विस्तरेण कुरुत। कानि पित्तवृद्धेर्लक्षणानि पित्तस्य साधारण उपक्रमो देयः ।

(२७) टिप्पणीः लिखतः– नानात्मजारोगाः; आवृत-दोषाणां लक्षणानि; ओजः; मिथ्यायोगः; स्त्रीशुक्रम्; स्रोतस्; रोगमार्गाः; चयप्रकोपः; सामान्यजाविकाराः; उष्मापित्तादृते-नास्ति; धात्वाग्निः; अवलंबककफः; पित्तस्योपक्रमः; शरीरस्य कानि कानि प्राकृतिककार्याणि कफवातपित्तायत्तानि; जीवरक्तं; रसविक्षेपणं; कला; अस्थि. ।

(२८) आवृतवातस्य कल्पना सोदाहरणं विशदीकर्तव्या ।

(२९) वातपित्तश्लेष्मेति पदानां अर्थः त्रिदोषाणांच शरीरे महत्त्वं वर्णनीयम् ।

(३०) किं नाम विचयत्वम् । पुरुषविचयज्ञानस्य चिकित्सायां कथमुपकारकत्वम् ।

(३१) आयुर्वेदसिद्धान्तानुसारेण श्वासक्रियाः प्रकारं मह-

त्वं च वर्णयित्वा गर्भस्थः शिशुः श्वासक्रियां करोति न वा इति सकारणं लिखत ।

(३२) आयुर्वेदाधारभूतं त्रिदोषसिद्धान्तं अतिसंक्षेपेण व्याख्यात । कथं तत्र एव दोषाः आयुर्वेदाधारभूताः ।

(३३) सामनिराम दोषाणां लक्षणं कारणं चालिख्य वृद्ध-वातपित्तकफलक्षणानि लिखत ।

(३४) ज्ञानेंद्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां भूतात्मकत्वं तेषा-अधिष्ठानानि कर्माणिच वर्णनीयानि ।

(३५) मनसः अस्तित्वे किं प्रमाणं तस्य एकत्वे वा अनेकत्वे तथा अणुत्वे वा विभुत्वे यो सिद्धांतः सपूर्वपक्षपूर्वकः स्थापनीयः ।

(३६) अन्येषु तत्वेषु विद्यमानेष्वपि केनोद्देशेन आयुर्वेद-शास्त्रे " पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष " इति स्वीकृतः ।

(३७) " शरीरपांचभौतिकं " इति सिद्धांतस्य स्थापनं कर्तव्यम् ।

(३८) "अन्नात् पुरुषः" इतिसूत्रस्य समर्थनं क्रियताम् ।

(३९) प्रत्येकदोषस्य कः श्रेष्ठः संशोधनोपायः ? तथाच किं श्रेष्ठं संशमनद्रव्यं इति युक्तिसहितं लिखत ।

(४०) पित्तवृद्धिजनितानां रोगाणां नामानि लिखित्वा तेषां चिकित्साक्रमं संक्षेपतः लिखत ।

(४१) सप्तमी शुक्रधरानाम । सा सर्वशरीरव्यापिनी विषय-मधिकृत्य पंचविंशति पंक्तिपर्यंतं एको निबंधः लेख्यः ।

(४२) वेदनानामधिष्ठानं किं । मानवदेहःसंपूर्णत्वेन सेंद्रिय वर्तते वा अंशेन मानव शरीरे कानि निरेंद्रियद्रव्याणि ।

(४३) रक्तक्षयेशिशिराम्लद्रव्येषु भक्तिः उपजायते, अत्र को हेतुः ।

(४४) कफप्रकोपजा केऽपि दशव्याधयो लेख्याः ।

(४५) दोषाणां के सामान्यगुणाः के च तेषां शमनाः प्रकोपकाश्च रसाः ।

(४६) विगुणोऽपानः कान् विकारान् जनयति ।

(४७) का नाम कला; रक्तधरा कलायाः स्थानं कार्यं च लिखत ।

(४८) निसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्तिजगद्देह कफपित्तानिलास्तथा ॥

अस्य पदस्य तथा व्याख्या करणीया यथा त्वया आयुर्वेदीय-सिद्धान्तः बुद्धौ सम्यक् अवतारिताः अवबुद्धेरन् ।

(४९) कतिभेदाः कोष्ठस्य ? किं च कारणं कोष्ठभेदस्य ।

(५०) शुक्रगतः वातः पत्यौ किं लक्षणं जनयति किं च लक्षणं पत्न्यांम् ।

(५१) पित्तावृते अपाने कानि लक्षणानि संभवन्ति । प्रकुपिताः वातपित्तकफाः केन वर्णनेन विज्ञातव्याः । प्रकुपितो वायुः केषु शरीरावयवेषु विशेषतः रोगान्जनयति ।

(५२) प्रकृतिभेदेन कान् स्वप्नान् पुरुषः पश्यति ।

(५३) शीतस्य वायोः उष्णे ग्रीष्मकाले कथं संचयः संभवति इति विशदयत । कतिविधाः दोषाणां गतयः । तासां संख्या नामानि च लिखित्वा व्याख्या करणीया । 'वमनं श्लेष्महराणाम्' इति सूत्रं व्याख्यात ।

(५४) (क) प्रकृति-ज्ञानं विकृति-ज्ञाने कथम् उपयोगि? तिसृणाम् प्रकृतीनाम् परिचायकानि मुख्यतमानि लक्षणानि लिख्यन्ताम्।

(ख) कस्य दोषस्य गुण—कर्माणि केन धातुना सदृशानि? इति लिख।

(५५) कः अर्थः कोष्ठ शब्दस्य? कोष्ठे प्रत्येकदोषस्य एकम् एकम् मुख्यम् स्थानम् लिख। तस्य तस्य स्थानस्य मुख्यतायाः किम् कारणम्—इति विशदतया लिख।

(५६) कैः रसैः गुणैश्च युक्तानि आहारौषधद्रव्याणि वातं वर्धयन्ति? कैः च विहार-देश-कालैः तस्य वृद्धिः भवति। सा च वृद्धिः कथं भवति?

(५७) वात-पित्त-कफानाम् सरलायाम् स्वभाषायाम् तथा परिचयो देयः यथा आयुर्वेदम् अजानन् अपि पुरुषः तेषाम् विषये किमपि जानीयात्।

(५८) लिख-के सामान्यजाः रोगाः? के च नानात्मजाः? पित्त-नानात्मजाः कति के च रोगाः? वात-रोगेषु सामान्यतः कानि लक्षणानि भवन्ति?

(५९) निम्नदर्शितानां संक्षेपेण व्याख्या कुरुत।

(१) पुरुषः, (२) द्रव्यम् (३) महाभूता गुणाः, (४) तुल्ययोनित्वम्, (५) अर्थग्रहणम्।

(६०) दुष्टरक्तम्, मेदक्षयः, स्तन्यक्षयः इत्येषां कानि लक्षणानि, तेषां कथं चिकित्सा च देया।

(६१) (अ) ओजसः स्वरूपं वर्णयित्वा "रक्तक्षये अम्लशिशिरप्रीतिः" कथमुपजायते इति सोपपत्तिकं लिखत।

(ब) "शुक्रधराकला सर्वशरीरव्यापिनी" इत्यस्य सूत्रस्य कः अभिप्रायः ।

(६२) आयुर्वेदसिद्धान्तानुसारेण मूत्रोत्पत्तिः कथं भवति इति अभिधाय "मूत्रस्य क्लेदवाहनम्" सूत्रम् इदं स्पष्टं कुरुत ।

(६३) "यथास्वं स्वं च पुष्यन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् । पार्थिवाः पार्थिवानेव, शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः" ॥ अस्य श्लोकस्य संदर्भपूर्वकं विवरणं कुरुत ।

(६४) चलो वायुः कथं धातुः, आप्यः श्लेष्मा कथं स्थिरः अद्रवं पाचकं पित्तं कथं एतत् सुसंगतम् ? ।

(६५) कानि ज्ञानेंद्रियाणि ? ज्ञानेंद्रियाणामधिष्ठानानि, कर्माणि च निर्दिश्य केषु केषु इन्द्रियेषु केषां-केषां महाभूतानां प्राधान्यमिति विलिख्य चक्षुषा कथं पश्यन्ति भवन्तः इति स्पष्टी कुर्वन्तु ।

(६६) उत्पेक्षण-अपक्षेपणादि कर्माणि मांसेषु वायुना कथं सम्पद्यते इति स्पष्टमुल्लिख्य पेशीनां, स्नायूनां, त्वचां च कर्माणि लिखन्तु ।

(६७) "रक्तस्य मलः पित्तम्" तथा "रसस्य मलः कफ" इति सिद्धान्तं स्पष्टीकुर्वन्तु ।